निवेदन

'आत्मानुभूति तथा उसके मार्ग' एक ऐसी पुस्तक है जो मुख्यतः प्रयोग में लाने योग्य है। यह निश्चय है कि इसके पाठक-गणों को इसके अमूल्य आदेशों से अत्यन्त लाभ होगा तथा अध्यात्म-ज्ञान के आकांक्षी भक्तों के हेतु इसमें दिए हुए अमूल्य आदेश वास्तव में सफल पथ प्रदर्शक होंगे। मानुषिक जीवन का अन्तिम ध्येय यही है कि मनुष्य स्वयं की वास्तविकता को पहिचाने।

प्रयोग में लाने योग्य सांकेतिक उपायों का दिग्दर्शन करा कर श्री स्वामी विवेकानन्द जी ने सांसारिक जनता का बड़ा उपकार किया है। यह साधना के सांकेतिक उपाय हमारे लिए अन्तिम ध्येय प्राप्त करने के निमित्त वास्तव में बड़े उपयोगी होंगे।

श्री मधुसूदन कृष्णरावजी शेंडे एम्. ए. एल्. एल्. बी. के हम परम कृतज्ञ हैं जिन्होंने अंग्रेजी पुस्तक का शुद्ध हिन्दी भाषा में उल्था किया है और साथ ही साथ उन्हीं भावों का यथार्थ दिग्दर्शन कराया है जो अंग्रेजी पुस्तक में हैं।

इस पुस्तक द्वारा जो आय होगी वह जनता के निमित्त भिन्न २ उपयोगी कार्यों में लगाई जावेगी। इसका मूल्य भी यथाशक्ति न्यून से न्यून रखा गया है जिससे कि जनसमुदाय इससे लाभ उठा सके।

ता. १ जून १९३८ —प्रकाशक

अन्य प्रकाशन

हिंदी विभाग

स्वामी विवेकानंद कृत पुस्तकें

१. प्रेम-योग (सचित्र) कीमत ८ आना।

२. प्राच्य और पाश्चात्य (सचित्र) कीमत ८ आना।

३. परिव्राजक, कीमत ६ आना।

४. भगवान् श्रीरामकृष्ण देव का विशद चरित्र-दो भागों में छप रहा है।

मराठी विभाग

१. भगवान् श्रीरामकृष्ण देव का विशद चरित्र-एन्. आर. परांजपे कृत-तथा महात्मा गांधी की लिखी हुई भूमिका सहित, सचित्र, प्रथम भाग ३४७ पृष्ठ, द्वितीय भाग-३६२ पृष्ठ, कीमत १॥) प्रत्येक भाग।

२. श्रीरामकृष्ण वाक्सुधा—स्वामी ब्रम्हानंद कृत, सचित्र, कीमत ५ आना।

३. भगवान् श्रीरामकृष्ण देव का संक्षिप्त चरित्र-एस्. बी. ठोम्बरे एम्. ए. कृत, सचित्र, कीमत १ आना ६ पा.

४. शिकागो वक्तृता-स्वामी विवेकानंद कृत, सचित्र, कीमत ४ आना।

५. मेरे गुरुदेव-स्वामी विवेकानंद कृत, सचित्र, कीमत ४ आना।

६. नागमहाशय चरित्र-एस्. डब्ल्यू. सोमण कृत, सचित्र, कीमत ६ आना।

यहाँ पर निम्न लिखित भी प्राप्य हैं:-रामकृष्ण मिशन के अन्य अंग्रेजी प्रकाशन, श्रीरामकृष्ण, पवित्र पावन मातेश्वरी (श्रीरामकृष्ण की धर्मपत्नी), स्वामी विवेकानंद और अन्यों की सुन्दर रंगीत तस्वीरें।

श्रीरामकृष्ण आश्रम,
धन्तोली, नागपूर, (सी. पी.)

अनुक्रमणिका

स्वामी विवेकानंद

आत्मानुभूति की सीढ़ियाँ

(अमेरिका में दिया हुआ भाषण)

'ज्ञान' योग का अधिकारी बनने के लिए मनुष्य को प्रथम 'शम' और 'दम' में गति कर लेनी चाहिये। दोनों में गति एक साथ ही की जा सकती है। इन्द्रियों को उनके केन्द्र में स्थिर करना और उन्हें बहिर्मुख न होने देना इसका नाम है 'शम' तथा 'दम'। अब मैं तुम्हें इन्द्रिय शब्द का मतलब समझाता हूं। ये तुम्हारी आँखें हैं लेकिन वे दर्शनेन्द्रिय नहीं हैं वे तो सिर्फ देखने का साधन मात्र हैं। जिसे दर्शनेन्द्रिय कहते हैं वह मुझ में न हो तो बाहरी आँखें होते पर भी मुझे कुछ न दिखलाई देगा। अब मानलो कि देखने का साधन ये बाहरी आँखें मुझ में हैं और दर्शनेन्द्रिय भी मौजूद है लेकिन मेरा मन वहां नहीं लगा है। तब भी मुझे कुछ नहीं दिख सकेगा। इसलिए किसी भी चीज़ के वस्तुज्ञान के लिए तीन बातें आवश्यक हैं यह साफ है। (१) इन्द्रिय के बाहरी साधन (आँख कान नाक इत्यादि) (२) स्वयं दर्शनादि इन्द्रियां जो अन्दर रहती हैं (३) और तीसरा मन। इन तीनों में से अगर एक भी न हो तो वस्तुदर्शन न होगा। इस तरह मन की प्रतिक्रिया दो मार्गों द्वारा हुआ करती है। एक बाहरी और दूसरी भीतरी द्वारा। जब मैं कोई वस्तु देखता हूं तो मेरा मन बहिर्मुख हो उस वस्तु की ओर झुक जाता है। लेकिन जब मैं आँख बंद कर लेता हूं और सोचने लगता हूं तो मन फिर बाहर नहीं जा पाता। वह भीतर ही भीतर काम करता रहता है। दोनों वक्त इन्द्रियों की प्रक्रिया जारी रहती

है। जब मैं तुम्हें देखता हूं या तुमसे बात करता हूं तो मेरी इन्द्रियां और उनके बाहरी साधन दोनों ही काम करते रहते हैं लेकिन जब मैं आँख बंद कर लेता हूं और सोचने लगता हूं तो मेरी इन्द्रियां सिर्फ काम करती हैं न कि उनके बाहरी साधन भी। इन्द्रियों की प्रक्रिया के बिना मनुष्य विचार ही न कर सकेगा। तुम अनुभव करोगे कि बिना किसी प्रतीक के सहारे तुम विचार ही नहीं कर सकते। अन्धा मनुष्य भी जब विचार करेगा तो किसी प्रकार के चित्रों द्वारा ही विचार करेगा। आँख और कान ये दो इन्द्रियां अक्सर बहुत ही कार्यक्षम होती हैं। यह बात कभी न भूलनी चाहिए कि 'इन्द्रिय' शब्द से मतलब है हमारे मस्तिष्क में रहनेवाले ज्ञानतन्तु। आँख और कान ये तो देखने और सुनने के 'साधन' मात्र हैं। उनकी इन्द्रियां तो उनके भीतर रहती हैं। अगर किसी कारण से यह इन्द्रियां नष्ट हो जावें तो आँख और कान रहने पर भी न तो हमें दिखेगा और न कुछ सुनाई ही देगा। इसलिए मन को काबू में करने के पहले इन इन्द्रियों को काबू में लाना चाहिए। एवं मन को भीतर वा बाहर भटकने से रोकना, और इन्द्रियों को अपने केन्द्रों में लगाये रखना इसी का नाम 'शम' और 'दम' है। मन को बहिर्मुख होने से रोकना यह 'शम' कहलाता है और इन्द्रियों के बाहरी साधनों का निग्रह इसी का नाम है 'दम'।

दूसरी सीढ़ी है 'तितिक्षा' (तत्वज्ञानी बनना ज़रा टेढ़ी ही खीर है !)। 'तितिक्षा' सब में कठिन है। आदर्श सहनशीलता और तितिक्षा एक ही हैं ऐसा तुम समझो। 'दुःख आता है तो आने दो' "Resist not evil" इसका मतलब ज़रा समझाने की आवश्यकता है। आया हुआ दुःख हम सहलेंगे लेकिन हो सकता है कि

साथ ही साथ हम दुःखी हो जावें। अगर कोई मनुष्य कड़ी बात सुना दे तब भी मैं ऊपरी तौर से उसका तिरस्कार न करूं; शायद उसे जवाब भी न दूं और बाहर गुस्सा भी न प्रकट होने दूं लेकिन मेरे मन में उसके प्रति तिरस्कार या गुस्सा मौजूद रह सकता है। शायद है कि मैं उस मनुष्य के बारे में मन ही मन बुरा सोचता रहूं। यह 'तितिक्षा' नहीं है। मेरे मन में न तो गुस्सा आना चाहिए और न तिरस्कार ही। और न मुझे उनके रोकने की आवश्यकता ही होनी चाहिए। मैं ऐसा शान्त रहूं कि जैसे कोई बात ही नहीं हुई हो। जब मैं ऐसी स्थिति को पहुंच जाऊंगा तब ही समझो कि मैंने तितिक्षा सीखी। इसके पहिले नहीं। आये हुए दुःखों को सहन करना; उन्हें रोकने या दूर करने का विचार भी न करना; तज्जन्य शोक या आवेग मन में पैदा भी न होने देना इसी का नाम 'तितिक्षा' है। अगर दुःख आता है तो आने दिया, मैंने दुःख रोकने की चेष्टा न की। और फलतः कोई ज़बरदस्त आपत्ति मुझ पर आ पड़ी तो मुझ में 'तितिक्षा' होने पर मुझे यह शोक न होगा कि उस आते हुए दुःख को रोकने की चेष्टा मैंने क्योंकर न की।

जब मनुष्य का मन ऐसी स्थिति पर पहुंच जावे तो समझ लो कि उसे अब 'तितिक्षा' सिद्ध हो गई। हिन्दुस्थान के लोग इस 'तितिक्षा' को प्राप्त करने के लिये बड़े असाधारण काम कर डालते हैं। वे भयानक धूप और भयानक ठंड बिना किसी क्लेश के सह जाते हैं, वे बर्फ़ गिरने की भी परवाह नहीं करते। उन्हें तो यह विचार भी नहीं आता कि उनके शरीर भी हैं। शरीर, शरीर के ही भरोसे छोड़ दिया जाता है। जैसे कि वह इनकी कोई वस्तु ही न हो।

अनन्तर आती है 'उपरति'। इन्द्रियों के विषयों का विचार भी

न करना इसीका नाम 'उपरति' है। हमने क्या देखा या क्या सुना; देखनेवाले हैं या सुननेवाले हैं; कौनसी वस्तु हमने खाई है; खा रहे हैं; या खावेंगे; हम कहां रहे इत्यादि इत्यादि इन्द्रिय विषयक विचारों में ही हमारा बहुतसा वक्त खर्च हो जाता है। जो कुछ हम देखते सुनते रहते हैं वही सोचने में और तद्विषयक बातें करने में ही हमारे समय का अधिकांश व्यतीत हो जाता है। अगर तुम 'वेदान्ती' बनना चाहते हो तो तुम्हें यह आदत छोड़ देनी चाहिए।

चौथा आवश्यक गुण है 'श्रद्धा'। 'श्रद्धा' मनुष्य का धर्म के प्रति और परमेश्वर के प्रति अमर्याद विश्वास है। जब तक मनुष्य में ऐसा विश्वास उत्पन्न नहीं होता वह 'ज्ञानी' होने की आकांक्षा नहीं कर सकता। एक बड़े सत्पुरुष का कथन है कि दो करोड़ मनुष्यों में भी एक मनुष्य इस दुनिया में ऐसा नहीं होता जो परमेश्वर में विश्वास करे। मैंने पूछा, 'यह कैसे'? तो वह बोले, "मान लो इस कमरे में चोर घुस आया और उसे पता लग गया कि दूसरे कमरे में सोने की डली रखी है। दोनों कमरों को अलग करनेवाला पड़दा भी बहुत कमज़ोर है। अब उस चोर के मन की क्या हालत होगी"? मैंने जवाब दिया, "उसे नींद न आवेगी। उसका मन सोना पाने की तरकीब सोचने में लगा रहेगा, उसे दूसरा और कुछ न सूझेगा।" इस पर साधु जी बोले, "तो फिर तुम बताओ कि क्या यह संभव है कि मनुष्य परमेश्वर में विश्वास करे और वह उसे पाने के लिए पागल न हो? अगर मनुष्य सचमुच यह विश्वास करे कि असीम और अमर्याद आनन्द की खान यहां है और वह उस खान तक पहुंच भी सकता है तो क्या वह वहां पहुंचने के लिए पागल न हो जावेगा?"

ईश्वर में अटूट विश्वास और साथ ही उसके पाने की उत्सुकता इसी का नाम 'श्रद्धा' है।

अब आता है 'समाधान' अर्थात् परमेश्वर में अपने मन को निरन्तर एकाग्र करने का अभ्यास। एक दिन में ही कोई बात नहीं बनकर आती। धर्म यह ऐसी वस्तु नहीं है कि गोली सी निगल ली जाय। इसके लिए लगातार और कड़े अभ्यास की आवश्यकता है। धीरे धीरे और लगातार अभ्यास से मन काबू में लाया जा सकता है।

छठवीं बात है 'मुमुक्षुत्व' अर्थात् स्वतंत्र होने की नितान्त अभिलाषा। तुम लोगों में से जिन्होंने 'ऑरनॉल्ड' की 'Light of Asia' नामक पुस्तक पढ़ी होगी उन्हें याद होगा कि भगवान् बुद्ध ने अपना पहला तत्व क्या सिखलाया है। वे कहते हैं।

स्रग्धरा—दुःखों के हो स्वयं ही जनक तुम नहीं
अन्य कोई दबाता।
जीवो ऐसा न कोई कहत, कहत या मृत्यु
को भी न कोई।
खाते जा चक्करों को जलन हिय लगा घूम-
नेभी चक्के की।
पाटा या अश्रुओं का, कहत न तुमसे, नाभि
या शून्यता की।

जो कुछ दुःख हम पर आते हैं वे हमारे ही पसंद किये होते हैं। यह हमारा स्वभाव ही है। साठ साल तक जेल में रहने के बाद जब एक चीनी नये बादशाह के राज्याभिषेक के उपलक्ष्य में जेल से छोड़ दिया गया तो वह चिल्ला उठा था, "अब मैं कहां जाऊं? मैं तो कहीं नहीं

जा सकता। मुझे तो उसी भयानक अन्धेरी कोठरी में चूहे और चूहियों के पास जाने दो। मैं यह उजेला नहीं सह सकता।" इसलिए उसने प्रार्थना की, "या तो मुझे मरवा दिया जावे या फिरसे जेल में ही भिजवा दिया जावे।" उसकी प्रार्थना के अनुसार बंद बंद कर दिया गया। सब मनुष्यों की हालत ठीक ऐसी ही है। चाहे कोई भी दुःख हो उसे पकड़ने के लिए हम जी तोड़कर दौड़ लगाते हैं। और उससे छुटकारा पाने के लिए बिलकुल रज़ामंद नहीं हैं। सुखों के पीछे हम प्रतिदिन दौड़ते जाते हैं और यही देखते हैं कि वे पाने से पहले गायब हो जाते हैं। पानी की तरह हमारी अंगुलियों में से सुख बह जाता है। फिर भी हम पागलों की भाँति उसके पीछे दौड़ते ही जाते हैं। अन्धे बनकर हम उसका पीछा किये ही जाते हैं।

हिन्दुस्थान के तेल के कुछ कोल्हू में बैल जोते जाते हैं। तेल निकालने के लिए बैल गोल ही गोल घुमाया जाता है। बैल के गले पर 'जुआ' होता है। 'जुएँ का' एक सिरा आगे बढ़ा होता है। उसके एक छोर पर घास बाँध दिया जाता है। फिर बैल की आँख इस तरह बाँध देते हैं कि वह सिर्फ सामने ही देख सके। बैल अपनी गर्दन निकालता है और घास खाने की कोशिश करता है। ऐसा करने में लकड़ी आगे धक्का खाती है। और बैल दूसरी बार और तीसरी बार फिर कोशिश करता है और इस तरह कोशिश करता जाता है लेकिन वह घास कभी नहीं पकड़ पाता और गोल ही गोल चक्कर लगाये जाता है। इधर कोल्हू में तेल पिरता जाता है। हमारी आदत ठीक ऐसी ही है। हम भी रूपया पैसा, जोरू बच्चे और अपनी आदतों के दास हैं। मृगजल की नाईं उस

घास को पाने के लिए हज़ारों जन्म हम चक्कर लगाये जाते हैं। लेकिन जो हम पाना चाहते हैं वह हमें नहीं मिलता। प्रेम एक ऐसा ही बड़ा धोखा है। हम लोगों का प्यार करते हैं और चाहते हैं कि लोग हमारा प्यार करें। हम समझते हैं कि हम सुखी होनेवाले हैं और हम पर दुःख कभी न आवेगा। लेकिन जितना ही अधिक हम सुख की ओर जाते हैं उतनी ही अधिक दूर वह हम से भागता है। इसी तरह दुनिया चल रही है और इसी तरह समाज। हम अन्धे गुलाम उसके लिए भुगतते हैं। और यह भी नहीं समझते कि हम भुगत रहे हैं। तुम ज़रा अपनी ही ज़िन्दगी की ओर देखो। तुम देखोगे कि कितना थोड़ा सुख इस ज़िन्दगी में है। और भागती हुई बतख का पीछा करने के समान इस दुनिया का पीछा करते हुए कितना थोड़ा सच्चा ज्ञान हमारे हाथ आया है।

क्या तुम्हें 'सोलन' और 'क्रीसस' की कहानी याद है? बादशाह ने उस बड़े साधु से कहा, 'सोलन, देखो इस एशिया मायनर जैसी सुखभरी और कोई दूसरी जगह नहीं है।' साधु ने पूछा, 'सब में सुखी मनुष्य कौनसा है? मैंने तो ऐसा कोई भी मनुष्य नहीं देखा जो बिलकुल सुखी हो।' क्रीसस ने कहा 'बेवकूफ़, वह सब में सुखी मनुष्य मैं हूं।' उस साधु ने इस पर कहा, 'ज़रा जल्दी न करो, अपनी ज़िन्दगी खत्म होते तक ठहरो।' ऐसा कह कर वह चला गया। कुछ दिनों बाद परशिया-निवासियों ने उस राजा को जीत लिया और उसे ज़िन्दा जलाने का हुक्म दे दिया गया। जब क्रीसस ने चिता रची देखी तो वह 'सोलन, सोलन' कहकर चिल्ला उठा। परशिया के बादशाह ने जब उसे पूछा कि वह किसको पुकारता है

तो क्रीसस ने अपनी सारी कहानी कह सुनाई। वह बात बादशाह के दिल में चुभ गई और उसने क्रीसस को मरने से बचा लिया।

हम में से हर एक की ज़िन्दगी की यही कहानी है। हमारे स्वभाव का हम पर ऐसा भीषण परिणाम होता है कि बार बार ठुकराये जाने पर भी बुखार के उन्माद की भाँति हम उसका पीछा किये ही जाते हैं। हम निराशा में भी आस लगाये बैठे रहते हैं। यह आशा—यह मृगजल हमको पागल बनाये हुये है। सुख पाने की आशा हमें सदा बनी ही रहती है।

किसी ज़माने में हिन्दुस्थान में एक बड़ा बादशाह राज्य करता था। किसी ने उसे एक बार चार प्रश्न पूछे। पहला प्रश्न यह था कि दुनिया में सबसे ताज्जुब भरी बात कौनसी है। उत्तर मिला 'आशा'। यह आशा ही दुनिया में सब में ताज्जुब भरी चीज़ है। लोग अपने दोनों ओर दिन-रात मनुष्यों को मरते देखते हैं फिर भी समझते हैं कि वे खुद न मरेंगे। हमको यह ख्याल कभी नहीं होता कि हम भी मरनेवाले हैं। या हमको दुःख उठाना पड़ेगा। हरएक यही सोचता है कि उसे तो यश ही मिल जायगा। यह तो आशा के विरुद्ध आस लगाये रहना है कि चाहे जितनी ही आपत्तियाँ क्यों न हों फिर भी यश मिल ही जावेगा। और तो क्या, गणित के सिद्धान्त के समान अपयश स्पष्ट प्रतीत होते हुए भी वे आशा किये ही जाते हैं। सचमुच सुखी कभी कोई नहीं हुआ। अगर मनुष्य श्रीमान् है और खाने पीने को खूब है तो उसकी पाचन शक्ति ही बिगड़ी रहेगी। और वह कुछ न खा सकेगा। अगर मनुष्य की पाचन शक्ति अच्छी है और उसे वृकोदार की सी भूक लगती है तो उसे खाने ही को न

मिलेगा। मनुष्य अगर श्रीमान् है तो उसको बाल बच्चे ही न होंगे। और अगर वह भूखों मर रहा हो तो लड़के लड़कियों की फ़ौज पैदा हो जावेगी। और उसे यह भी न सूझेगा कि वह क्या करे। ऐसा क्यों? इसलिये कि सुख और दुःख यह रूपये की सीधी और उलटी बाजू की तरह हैं। जिसे सुख चाहिए उसे दुःख भी लेना होगा। हम लोग मूर्खता के इसी विचार में फँसे रहते हैं कि हमें कोरा सुख ही मिल जावेगा। यह बात हम पर ऐसी ठस गई है कि इन्द्रियों पर हम अधिकार भी नहीं चला सकते।

जब मैं 'बोस्टन' में था तो एक नौजवान मेरे पास आया और मेरे हाथ पर उसने कागज़ का एक टुकड़ा रख दिया। इस टुकड़े पर किसी शख्स का नाम और पता लिखा था। और आगे यह इबारत लिखी थी कि 'दुनिया की सारी दौलत और सारा सुख तुम्हें मिल सकता है। वह मिलाने की तरकीब सिर्फ़ तुम्हें मालूम होनी चाहिए। अगर तुम मेरे पास आओ तो मैं तुम्हें वह तरकीब सिखलाऊंगा। फ़ीस सिर्फ़ ५ शिलिंग।' ऐसी चिट्ठी देकर उसने मुझे पूछा कि तुम्हारा क्या मत है। मैंने जवाब दिया कि इसके छपाने का पैसा फिर तुम ही क्यों नहीं पैदा कर लेते? तुम्हारे पास तो यह छपाने के लिए काफ़ी पैसा भी नहीं है।

मैंने उसे क्या कहा यह वह न समझ सका। वह इसी ख्याल में मशगूल था कि बिना कोई तकलीफ़ उठाये उसे अमर्याद सुख और पैसा मिल जावेगा। मनुष्य इस दुनिया में दो प्रकार की गलतियाँ कर सकता है। पहली है एकदम आशावादी वृत्ति—जिस वृत्ति में हरएक वस्तु हमें सुन्दर, हरीभरी और अच्छी प्रतीत हुआ करती है। और

दूसरी है निराशावादी वृत्ति, जिस समय सारी बातें अपने मन के प्रतिकूल ही हुआ करती हैं। अधिकांश लोग ऐसे ही हैं जिनके मस्तिष्क की बाढ़ अधूरी ही रह गई। दस लाख में एक ही कोई ऐसा निकलता है कि जिस का मस्तिष्क सुव्यवस्थित बढ़ा हो। बाकी के सारे या तो अधपगले ही होते हैं या उनका सिर ही घूमा हुआ होता है।

कोई आश्चर्य नहीं कि हम यह या वह एक न एक गलती कर बैठते हैं। जब हम नौजवान और शक्तिमान् होते हैं तो हमें ऐसा मालूम हुआ करता है कि दुनिया का सारा धन हम ही पानेवाले हैं। और वह हमारे लिए ही पैदा किया गया है। इसके विरुद्ध जब लोग हमें गेंद की तरह ठोकरों से उड़ाते हैं और हम बूढ़े होते जाते हैं तो हम खांसते खांसते एक कोने में जा बैठते हैं और फिर दूसरों के उत्साह पर भी ठंडा पानी फेरने लगते हैं। बहुत थोड़े मनुष्यों को इस बात का पता है कि दुःख के साथ सुख और सुख के साथ दुःख लगा हुआ है। और सुख भी इतना ही घृणाजनक है जितना कि दुःख। क्योंकि सुख और दुःख दोनों जोड़ले भाई हैं। दुःख के पीछे दौड़ना जिस तरह मनुष्य की कीर्ति के लिए अधःपात है उसी तरह सुख के पीछे दौड़ना भी अपना अधःपात कर लेना है। जो स्थितप्रज्ञ है उसने दोनों ही का तिरस्कार करना चाहिए। मनुष्य धोखा खाने से छुटकारा पाने की कोशिश क्यों नहीं करता? अभी हम पर मार बरस रही है और जब हम रोने लगते हैं तो 'माया' हमारे हाथ पर रूपया रख देती है। फिर मार बरसती है और हम फिर रोने लगते हैं। अब की बार 'माया' रोटी का टुकड़ा दे देती है। और हम फिर हँसने लगते हैं।

साधु चाहता है स्वातंत्र्य । वह जानता है कि विषय निःस्सार हैं और सुख दुःख का कोई अन्त नहीं है । दुनिया के कितने धनवान नया सुख ढूंढने में लगे हुए हैं । लेकिन जो सुख उन्हें मिलता है वह पुराना ही होता है । कभी कोई नया सुख हाथ नहीं लगा। इन्द्रियों को कुछ क्षण तक उद्दीप्त करने के लिए प्रतिदिन किस तरह मूर्खता के नये नये आविष्कार किये जा रहे हैं यह क्या तुम नहीं देख रहे हो ? फिर होता है 'प्रत्याघात' । बहुजन समाज भेड़ों के झुण्ड के समान है । अगर एक भेड़ गड्ढे में गिरती है तो दूसरी भेड़ें भी गिरकर अपनी गर्दन तोड़ लेती हैं । इस तरह समाज का मुखिया जब कोई बात कर बैठता है तो दूसरे लोग उसका अनुकरण करने लगते हैं और यह नहीं सोचते कि वे क्या कर रहे हैं । जब मनुष्य को ये संसारी बातें निःस्सार प्रतीत होती हैं तब वह सोचता है कि उसे इस तरह का धोखा न दिया जाना चाहिए या माया ने इस तरह न बहकाना चाहिए । यह गुलामी है । कोई अगर दो चार मीठी बातें सुनावे तो मनुष्य मुस्कुराने लगता है । और जब कोई कड़ी बात सुना देता है तो आँसू निकल आते हैं । एक रोटी के टुकड़े का, एक सांस भर हवा का, कपड़े लत्ते का, देशाभिमान का, अपने देश का, अपने नाम का, या अपनी कीर्ति का मनुष्य दास है । इस तरह वह गुलामी में फँसा है और उसमें वास-करनेवाला सच्चा 'मनुष्यत्व' उसके बंधनकारक कर्मों के कारण उसके अन्दर गड़ा हुआ पड़ा है । जिसे तुम मनुष्य कहते हो वह गुलाम है । जब मनुष्य को अपनी इस सारी गुलामी का अनुभव आता है तब स्वतंत्र होने की उसके मन में इच्छा पैदा होती है । अब उसके मन में अदम्य इच्छा उत्पन्न होती है । अगर किसी मनुष्य के सिर पर आगी का जलता

निवाला रख दिया जावे तो वह मनुष्य उस अंगार को दूर फेंकने के लिए किस तरह छटपटावेगा। ठीक इसी तरह यह मनुष्य, जिसे यह समझ चुका है कि वह प्रकृति का गुलाम है, स्वतंत्रता पाने के लिए छटपटाता है।

'मुमुक्षुत्व' अर्थात् स्वतंत्रता पाने की इच्छा यह क्या है यह हमने देख लिया। अब आता है दूसरा अभ्यास। वह भी बहुत कठिन है। सत्य क्या है और मिथ्या क्या है, कौन चिरंतन है, और क्या नश्वर है, यह भेद जानना अर्थात् 'नित्यानित्य विवेक' यह है वह दूसरा अभ्यास। परमेश्वर ही सिर्फ शाश्वत है, बाकी दुनिया की प्रत्येक वस्तु नश्वर है। देवदूत, मनुष्य, पशु, पृथ्वी, सूर्य, चंद्र, तारे सब नष्ट होनेवाले हैं। प्रत्येक वस्तु का निरन्तर स्थित्यन्तर होता रहता है। आज जहां पर्वत है कल वहां समुद्र था, और फिर कल समुद्र दिखलाई देगा। प्रत्येक वस्तु अस्थिर है; यह सारा विश्व ही परिवर्तन-शील पिण्ड है। बस वही एक है जो कभी नहीं बदलता। वह है ईश्वर। और हम उसके जितने ही अधिक नज़दीक जावेंगे उतना ही कम हम में परिवर्तन या विकार होगा। प्रकृति का हम पर उतना ही कम अधिकार चलेगा और जब हम उस परमेश्वर तक पहुंच जावेंगे, उसके सामने जाकर खड़े होवेंगे तो हम प्रकृति को जीत लेंगे। प्रकृति का यह दृश्यजात हमारे स्वाधीन हो जावेगा और हम पर उसका कोई असर न पड़ सकेगा।

यह देखो, अगर ऊपर बतलाया हुआ अभ्यास हमने सचमुच किया है तो फिर सचमुच में इस दुनिया में हमें और किसी बात की आवश्यकता न रहेगी। संपूर्ण ज्ञान हम में ही अधिष्ठित है। आत्मा

स्वभावतः ही स्वयंपूर्ण है। लेकिन यह स्वयंपूर्णत्व प्रकृति से ढका हुआ है। आत्मा के शुद्ध स्वरूप पर इसके आवरण पर आवरण चढ़े हुए हैं। हमें क्या करना चाहिए? वास्तव में हम अपनी आत्मा की बिलकुल उन्नति नहीं करते। जो स्वयंपूर्ण है उसका विकास कौन कर सकता है? हम सिर्फ पड़दा दूर हटा देते हैं और आत्मा अपने अविकृत शुद्ध, स्वाभाविक तथा स्वयं स्वतंत्र रूप में प्रकट हो जाती है।

अब यह प्रश्न आता है कि इस तरह के अभ्यास की क्योंकर आवश्यकता है? इसका कारण यह है कि धर्मसाधन न तो आँख ही से होता है और न कान से या मस्तिष्क से। कोई भी धर्म-ग्रंथ हमें धार्मिक नहीं बना सकता। चाहे हम दुनिया के सारे धर्म-ग्रंथ पढ़लें फिर भी ईश्वर का या धर्म का हमें एक अक्षर समझ में न आवेगा। हम सारी उमर वे बातें करते रहें और फिर भी कोई उन्नति न हो। दुनिया में पैदा हुए विद्वानों में से चाहे हम सब में होशियार हों और फिर भी हम ईश्वर तक न पहुंच सकें। इसके विरुद्ध शिक्षा पा बहुत होशियार बने हुए पुरुषों में अत्यन्त अधार्मिक पुरुष निर्माण होते हुए क्या तुमने नहीं देखे हैं? तुम पाश्चात्यों की शिक्षा का यह एक बड़ा दोष है कि बुद्धि पर संस्कार करते समय हृदय के संस्कार की ओर तुम ध्यान नहीं देते। इसका फल यही होता है कि मनुष्य दस गुना अधिक स्वार्थी बन जाता है। यह तुम्हारे नाश के लिए कारण होगा। अगर हृदय और बुद्धि में विरोध उत्पन्न हो तो तुम हृदय का अनुसरण करो। क्योंकि बुद्धि सिर्फ एक विवेक के क्षेत्र ही में काम कर सकती है और वह उसके पार नहीं जाती। लेकिन वह सिर्फ हृदय ही है जिसकी गति उन्नततम जगत में भी हो जाती है—

जहां तक बुद्धि कभी नहीं पहुंच सकती। हृदय बुद्धि के उस पार निकल जाता है और जिसे हम 'स्वयंस्फूर्ति' कहते हैं उसे वह पा लेता है। बुद्धि कभी स्वयं स्फूर्त नहीं हो सकती। वह हृदय ही है कि जो संस्कृत होने के बाद स्वयं स्फूर्त बन जाता है। बुद्धिप्रधान किन्तु हृदयशून्य मनुष्य कभी स्वयं स्फूर्त पुरुष नहीं बन सकता। प्रेमस्वरूपी का हृदय ही है कि जो उसके लिये बोला करता है। एक ऐसा उच्चतर साधन जिसे कि बुद्धि कभी नहीं दे सकती और जो स्वयंस्फूर्ति का साधन है, अगर किसीने पाया है तो हृदय ने। जिस तरह बुद्धि ज्ञान का साधन है उसी तरह हृदय 'स्वयंस्फूर्ति' का साधन है। साधारण जगत में हृदय इतना शक्तिशाली नहीं होता जितनी कि बुद्धि। एक अपढ़ मनुष्य को कोई ज्ञान नहीं होता। उसका हृदय ही थोड़ा कुछ भावनाप्रधान होता है। अब उसकी तुलना एक प्राध्यापक (प्रोफेसर) से करो। ओह! उस प्राध्यापक में कितनी आश्चर्यमयी शक्ति होती है। लेकिन प्राध्यापक अपनी बुद्धि से मर्यादित है। वह एक ही समय बुद्धिमान और शैतान भी हो सकता है। लेकिन जिस मनुष्य को अन्तःकरण है वह शैतान कभी नहीं हो सकता, जिसे भावना है ऐसा मनुष्य कभी आज तक शैतान नहीं बना। अगर योग्य संस्कार किया जाय तो हृदय में परिवर्तन हो जाता है और वह बुद्धि के आगे निकल सकता है, वह स्वयं स्फूर्त बन जाता है। अन्त में मनुष्य को बुद्धि के उस पार जाना ही पड़ेगा। मनुष्य की सारी बुद्धि, उसकी विषय-ग्राहक-शक्ति, उसका विवेक, उसका हृदय और उसका सर्वस्व, इस संसाररूपी पयःसमुद्र के मंथन में लगे हुए हैं। चिरकाल मथने के बाद उसमें से मक्खन निकलता है। यह 'मक्खन' ईश्वर है। भावनामयी विभूतियाँ

'मक्खन' पा लेती हैं। और बुद्धिमानों के लिए सिर्फ 'छाछ' बच जाती है।

हृदय के लिए, उस प्रेम के लिए, उस दया के लिए जिसका हृदय अधिष्ठान है, ये सब पूर्व तैयारियाँ हैं। ईश्वर पाने के लिए विद्वान या पढ़ा लिखा होने की बिलकुल आवश्यकता नहीं। एक बार एक साधु ने मुझे कहा था, "अगर तुम किसी का प्राण लेना चाहो तो तुम्हें ढाल तलवार से सुसज्जित होना चाहिए। लेकिन अगर तुम्हें आत्महत्या करनी है तो सिर्फ सुई ही काफ़ी होगी। इसी तरह अगर दूसरों को सिखलाना हो तो बहुत से ज्ञान और बुद्धि की आवश्यकता होगी लेकिन स्वात्मप्रकाश के लिये यह आवश्यक नहीं है।" क्या तुम शुद्ध हो? अगर तुम शुद्ध होगे तो तुम परमेश्वर पाओगे। "जो हृदय से शुद्ध हैं वे धन्य हैं क्योंकि उन्हें परमात्मा की प्राप्ति होगी।" लेकिन अगर तुम शुद्ध न हो तो फिर चाहे दुनिया का सारा विज्ञान तुम्हें अवगत हो फिर भी उसका कुछ उपयोग न होगा। जो किताबें तुम पढ़ते हो उसमें खुद को तुम चाहे गाड़ लो फिर भी कुछ फ़ायदा न निकलेगा। यह हृदय ही है कि जो अन्तिम ध्येय तक पहुंच सकता है। इसलिए हृदय की उपासना करो। शुद्ध हृदय बुद्धि के आगे देख सकता है वह स्वयं स्फूर्त हो जाता है। हृदय वे बातें जान लेता है जिसे बुद्धि कभी नहीं जान सकती। और अगर शुद्ध हृदय और बुद्धि में झगड़ा पड़े तो तुम अपने शुद्ध हृदय ही की सुनो भले ही फिर तुम्हें हृदय का कथन निराधार मालूम हो। जब हृदय परोपकार करने की इच्छा करे तो बुद्धि तुम्हें बतला सकती है कि ऐसा करना अविचार है लेकिन तुम हृदय की सुनो और तुम देखोगे कि बुद्धि की सुनकर तुम जितनी

गलतियाँ करते उनसे कम गलतियाँ करोगे। शुद्ध हृदय ही सत्य प्रतिबिम्ब के लिए सर्वोत्तम दर्पण है, इसलिए ये सारे अभ्यास हृदय के शुद्धीकरण के लिए ही हैं और ज्योंही वह शुद्ध हो जाता है त्योंही सारा सत्य एक क्षण में उस पर प्रतिबिम्बित हो जाता है। अगर तुम हृदय से पर्याप्त शुद्ध होगे तो दुनिया के सारे सत्य उस पर दृग्गोचर हो जावेंगे।

जिन मनुष्यों ने दुर्बिन, सूक्ष्मवस्तुदर्शक, या प्रयोगशाला (लेबॉरटरी) तक कभी न देखी थी उन लोगों ने कई युगों के पूर्व सूक्ष्मतत्वका (या तन्मात्राओंका), मनुष्य के सूक्ष्म ग्राहकशक्तियों का, (fine perceptions of men) और परमाणु विषयक सत्य दर्शन का पता लगा लिया था। यह कैसे? वे ये बातें किस तरह जान सके। यह ज्ञान उन्हें हृदय के बल पर ही हुआ था। उन्होंने अपने हृदय को शुद्ध बनाया था। अगर हम चाहें तो आज भी वही कर सकते हैं। वास्तव में हृदय की संस्कृति ही इस दुनिया के दुःखों को कम करेगी न कि बुद्धिजन्य संस्कृति।

बुद्धि सुसंस्कृत की गई। फलतः मनुष्य ने सैकड़ों विद्याओं का आविष्कार किया और उसका परिणाम यह हुआ कि कुछ थोड़े मनुष्यों ने बहुत से मनुष्यों को अपना गुलाम बना डाला। बस यही हमारा लाभ हुआ है। कृत्रिम वासनाएँ उत्पन्न की गई। प्रत्येक गरीब मनुष्य चाहे फिर उसके पास पैसा हो या न हो—इन वासनाओं को तृप्त करना चाहता है और जब उन्हें तृप्त नहीं कर सकता है तो छटपटाता है और छटपट करते ही मर जाता है। यह है बुद्धि-संस्कार का परिणाम। दुःख दूर करने का प्रश्न बुद्धि से नहीं छुड़ाया जा

सक्ता, वह हृदय ही से छूटेगा। अगर यह अमर्याद प्रयत्न मनुष्यों को शुद्धतर, सभ्यतर, और सहनशील बनाने की ओर लगाया जाता तो यह दुनिया आज हज़ार गुनी अधिक सुखी हो जाती। इसलिए सर्वदा हृदय पर संस्कार करो। क्योंकि परमेश्वर हृदय द्वारा बोलता है और तुम अपनी बुद्धि द्वारा।

पुराने अहदनामा में (Old Testament) मसीहा को कहा हुआ तुम्हें याद आवेगा कि "अपने पैरों से तुम अपने जूते उतार दो, क्योंकि तुम जहां खड़े हो वह पवित्र भूमि है।" धर्म का अभ्यास करते समय हमने यह आदरमयी भावना रखकर उसकी तरफ़ बढ़ना चाहिये। जो कोई शुद्धान्तःकरण से और आदरमयी भावना से इधर बढ़ेगा उसके लिए हृदय खुल जावेगा। कपाट खुले कर दिये जावेंगे और उसे सत्य का दर्शन होगा।

अगर तुम बुद्धि को साथ लेकर आवोगे तो बुद्धि की कुछ कुलांटें खानें तुम्हें मिल जावेंगी। कुछ बुद्धिप्रधान सिद्धान्त प्रतिपादन कर लोगे, लेकिन सत्यदर्शन, न होगा। सत्य का ऐसा मुखड़ा है कि जो कोई उस मुखड़े को देखेगा उसे एकदम पूरा विश्वास हो जावेगा। सूर्य का अस्तित्व सिद्ध करने के लिए मसाल की जरूरत नहीं होती। वह स्वयं ही प्रकाशमान है। अगर सत्य को भी सबूत की आवश्यकता हो तो उस सबूत को फिर कौन साबित करेगा? इसलिए धर्म की ओर हमें प्रेम तथा आदरमयी भावना से झुकना चाहिए। फिर हमारा हृदय जाग्रत हो उठेगा और कहेगा, 'यह सत्य है, यह सत्य नहीं है'।

धर्म का क्षेत्र हमारी इन्द्रियों के उस पार है। हमारी संवेदना के भी (Consciousness) उस पार है। ईश्वर इन्द्रियों से कभी

नहीं ग्रहण किया जा सकता न तो कभी किसी ने परमेश्वर अपनी आँखों से देखा है और न कभी वह उसे संवेदनावस्था में देख ही सकेगा। न तुम, न मैं और न कोई भी ईश्वर से वाक़िफ़ है। परमेश्वर कहां है? धर्म का क्षेत्र कौनसा है? वह इन्द्रियों से परे है और संवेदना से भी परे है। संवेदना या जागृतावस्था, अनन्त जगतों में से एक जगत है जहां पर हम काम किया करते हैं। तुम्हें चेतन जगत के उस पार जाना होगा, इन्द्रियों से अतीत बनना होगा, अपने स्वतः के केन्द्र की ओर अधिकाधिक झुकना होगा, और जितने जितने तुम इस तरह आगे बढ़ोगे उतने अधिक तुम प्रभु के नज़दीक आवोगे। ईश्वर के अस्तित्व का क्या सबूत है? 'प्रत्यक्षत्व' अर्थात् उसका स्वयं अनुभव करना। इस दीवाल का सबूत यह कि मैं इसे देखता हूँ। आज से पहले हजारों ने परमेश्वर को इस तरह देखा है (स्वानुभव लिया है) और आगे भी जो चाहेंगे उसे देख सकेंगे। लेकिन यह प्रत्यक्षानुभव इन्द्रियों के दर्शन का सा नहीं है। वह इन्द्रियातीत है, वह संवेदनातीत है। ये सब अभ्यास हमें इन्द्रियातीत बनाने के लिए आवश्यक हैं। अनेक प्रकारों के गत कर्मों से और बंधनों से हम नीचे गिराये जा रहे हैं। इन अभ्यासों से हम शुद्ध और सरल बनेंगे। बंधन स्वयं ही टूट जावेंगे और हम इन्द्रिय विषयक इस जगत से, जहां कि हम फँसे पड़े हैं, ऊँचे उठ जावेंगे। और फिर हम वह देखेंगे, वह सुनेंगे, उसका अनुभव करेंगे जिसे कि मनुष्य ने अवस्थात्रयी में (जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति में) न कभी देखा है, न कभी सुना है और न कभी अनुभव किया है। फिर हम, जैसे कोई नई ही भाषा बोलेंगे और दुनिया हमें न समझेगी क्योंकि इन्द्रियों से आगे उसे किसी का ज्ञान नहीं है। सच्चा धर्म बिलकुल स्वर्गीय है।

इस लोक में रहनेवाला प्रत्येक जीव उत्थानशील होता है। उसे इन्द्रियों के अतीत होने का अभिजात सामर्थ्य होता है। छोटे से छोटा कीड़ा भी एक दिन इन्द्रियातीत हो जावेगा और परमेश्वर तक पहुंच जावेगा। कोई भी अपयशी न होगा। इस विश्व में अपयश कोई वस्तु ही नहीं है। सौ वार मनुष्य अपना पतन कर लेगा, हजार वार वह फिसल जावेगा लेकिन अन्त में वह जान जावेगा कि वह परमेश्वर है। हम जानते हैं कि उन्नति कभी सरल रेखा में नहीं होती। प्रत्येक जीव की गति वर्तुलाकार है और उसे अपना गोल पूरा करना होगा। कोई भी जीव इतने नीचे कभी जा ही नहीं सकता कि फिर उसका उत्थान न हो। हर एक जीव को ऊँचा चढ़ना ही होगा। जिसे सुगति नहीं ऐसा कोई भी नहीं है। हम सब एक ही मध्यबिंदु से जो कि परमेश्वर है, प्रसूत हैं। ऊँचे से ऊँचा नीच से नीच चाहे जिस ही जीव का परमेश्वर ने विस्तार किया हो वह अन्त में उस पिता के पास लौट आवेगा। जिससे प्रत्येक व्यक्ति ने विस्तार पाया है, जो सब वस्तुओं का अधिष्ठान है और जिसमें प्रत्येक जीव का लय होगा, वही परमेश्वर है।

व्यवहार्य आत्मबोध की (विधायक) सूचनाएँ

(लॉस एन्जलस के 'सत्याश्रम' में दिया हुआ भाषण, कॅलीफोर्निया)

आज प्रातःकाल, सांस लेना तथा छोड़ना (प्राणायाम) और तत्संबंधी अभ्यासों के बारे में कुछ विचार प्रकट करूंगा। हमने सिर्फ़ सिद्धान्तों का अध्ययन इतने अधिक काल तक किया है कि अब उनको प्रत्यक्ष व्यवहार में लाना सीखना ही अधिक अच्छा है। हिन्दुस्थान में इस विषय पर अनेक पुस्तकें लिखी गई हैं। जिस तरह तुम लोग अनेक बातों में व्यवहारचतुर हो उसी तरह ऐसा मालूम होता है कि हम हिन्दुस्थानी इस विद्या को अमल में लाने में अधिक दक्ष हैं। तुम लोगों में से पांच मनुष्य इकट्ठे होते हैं और उनका विचार हो जाता है कि वे एक 'जॉइन्ट स्टॉक' कम्पनी खोलेंगे। पांच घंटे बाद कम्पनी खुल भी जाती है। हिन्दुस्थान में लोगों से पचास साल में भी ऐसी कम्पनी न खुल सकी। हिन्दुस्थानी मनुष्य इन बातों में आप इतने व्यवहारचतुर हैं ही नहीं। लेकिन अगर कोई वेदान्तीय सिद्धान्त निकल पड़े तो तुम समझ लो कि यह सिद्धान्त चाहे जितना ही अप्राकृतिक क्यों न हो उसके अनुयायी निकल ही पड़ेंगे। उदाहरणार्थ मान लो अगर किसी ने कहा कि बारा साल दिन रात एक पैर पर खड़ा रहने से मुक्ति मिल जावेगी तो एक पैर खड़े रहने को तैयार सैकड़ों आदमी मिल जावेंगे। सारी तकलीफ़ चुपचाप सह लेंगे। ऐसे मनुष्य हैं जो कि पुण्य प्राप्त करने के लिए लगातार सालों हाथ उठाये ही रह जावेंगे।

मैंने ऐसे सैंकड़ों देखे हैं। और यह ख्याल रहे कि इनमें से बहुत से मूर्ख नहीं होते। उनकी गहरी और विस्तृत बुद्धि देखकर तुम चकरा जावोगे। इस पर से तुम्हारी समझ में आजावेगा कि 'अमल' यह शब्द भी सापेक्ष है।

दूसरों की योग्यता ठहराते समय हम सदा यही गलती कर बैठते हैं। हम समझे बैठे हैं कि हमारी छोटी बुद्धि को जो कुछ समझता है उतना ही यह विश्व है। मेरा तर्कशास्त्र, मेरी नीति की कल्पनाएँ, मेरी धर्म विषयक भावना, या मेरी उपयोगिता की कल्पना ये ही वस्तुएँ हैं जो लोगों के पाने के लायक हैं। पहले दिन यूरोप में जाते समय मार्सेल्स में, जिसको मैं पार कर रहा था, सांडों की लड़ाई हो रही थी। जिसे सुन जहाज में बैठे हुए सब अंग्रेज जोश से पागल हो गये थे, "यह तो बिलकुल बेरहमी है" ऐसा ऐब निकाल रहे थे और बुरी भाषा उपयोग में ला रहे थे। जब मैं इंग्लैंड गया तो वहां मैंने दंगल में भाग लेने वाली पार्टी के विषय में सुना। ये लोग पेरिस गये थे और फरासीयों ने ठोकरें लगाकर इन्हें निकाल दिया था क्योंकि वे दंगल खेलना (Prize-fighting) बेरहमी समझते हैं। जब इस तरह की बातें मैं अनेक देशों में सुनता हूँ तो मुझे ईसा के अप्रतिम शब्दों का मतलब समझ में आ जाता है। "ताकि दूसरे लोग तुम्हें नाम न रखें तुम भी किसी को नाम न रखो।" जितना ही अधिक हम अध्ययन करते हैं उतना ही अधिक हमें पता लगता है कि हम कितने अज्ञ हैं और मनुष्य का मन किस तरह लाखों स्वरूप का हो सकता है या उसे कैसी लाखों दिशाएँ हो सकती हैं। जब मैं छोटा था तब मैं अपने देशबांधवों के तपश्चर्या के प्रकारों में नुकताचीनी किया करता था। हमारे देश के बड़े बड़े उपदेशकों ने भी उन प्रकारों में नुकता-

चीनी की है। इतना ही नहीं दुनिया के एकमेव श्रेष्ठ पुरुष भगवान् बुद्ध ने भी यही बात की है। लेकिन जैसा जैसा मैं बड़ा होता जा रहा हूँ मैं देखता हूँ कि उनको इस तरह नाम रखने का मुझे कोई अधिकार नहीं है। यद्यपि उनकी बातें असंबद्ध होती हैं तो भी कभी कभी मैं भी चाहता हूँ कि उनकी सहनशक्ति का एक अंश मुझ में आ जावे। मुझे अक्सर मालूम हुआ करता है कि यह जो मैं नुक़्ता-चीनी करता हूँ या नाम रखता हूँ सो इसलिए नहीं कि मुझे आत्म-दण्ड पसंद नहीं है, बल्कि इसलिए कि मैं डरपोक हूँ—मुझमें वह करने की हिम्मत नहीं है, मैं उसे आचरण में नहीं ला सकता।

तुम्हारे यह भी ध्यान में आजावेगा कि ताकत, हिम्मत और बल ये ऐसी बातें हैं जो बिलकुल खास हैं। हम अक्सर कहा करते हैं कि यह मनुष्य शूर है, या हिम्मतवाला है, या धैर्यशील है; लेकिन हमें स्मरण रहना चाहिए कि शौर्य, धैर्य या ऐसा इतर सद्गुण यही मनुष्य की खासियत नहीं है। वही मनुष्य जो तोप के मुँह में घुस जावेगा डॉक्टर का चाकू देखकर पीछे हट जाता है। लेकिन दूसरा मनुष्य जो तोप देखने की हिम्मत भी न करेगा मौका पड़ने पर डॉक्टर से की हुई चीरफाड़ (ऑपरेशन) शान्तता से सहन कर लेता है। इसलिए दूसरों के प्रति (अनुकूल या प्रतिकूल) मत बनाने के समय तुम्हें 'हिम्मत' या 'बड़प्पन' की अपनी व्याख्या देनी चाहिए। हो सकता है कि जिस मनुष्य को मैं बुरा नाम रखूं वह कोई दूसरी बातों में आश्चर्यजनक अच्छा हो और उनमें मैं कभी अच्छा नहीं हो सकता।

दूसरा उदाहरण लो। मनुष्य या स्त्री में कार्य करने का कितना सामर्थ्य है इस बारे में जब लोग आपस में बातचीत करते हैं, तो

तुम देखोगे कि वे वही गलती करते हैं। मनुष्य ही सब में अच्छा है यह दिखलाते समय वे सोचते हैं कि देखो मनुष्य युद्ध कर सकता है वह कितनी कड़ी शारीरिक मेहनत कर सकता है (लेकिन स्त्री ऐसा नहीं कर सकती) और यह बात स्त्रियों के मुँह पर फेंकी जाती है क्योंकि वे शरीर से कमज़ोर हैं और उनमें युद्धकारित्व का गुण नहीं है।

यह तो अन्याय्य है। स्त्री भी इतनी धैर्यशालिनी होती है। जितना कि पुरुष। ऐसा मनुष्य बतलाओ जो बालक संगोपन उतनी सहनशीलता तथा शान्तता और प्यार के साथ करेगा जितनी सहनशीलता, शान्तता और प्यार के साथ एक स्त्री कर सकती है। पुरुष ने अपनी कार्यक्षमता का सामर्थ्य बढ़ाया है तो स्त्री नें कष्टक्षमता का। अगर स्त्री में कार्यकारित्व नहीं है तो पुरुष भी कष्ट नहीं सह सकता। यह संपूर्ण विश्व पूर्णतया समतोल है। मैं नहीं कह सकता लेकिन शायद एक दिन ऐसा आ जावे जब हमें यह दिख जाय कि एक क्षुद्र कीटक में भी वे गुण हैं जो मनुष्यत्व को तोले रखते हैं। अत्यन्त दुष्ट मनुष्य में भी वे गुण हो सक्ते हैं जो मुझ में न हों। यह सत्य जीवन में मैं प्रतिदिन देख रहा हूँ। इस जंगली ही की ओर देखो। मैं (कितना) चाहता हूँ कि मेरा शरीर भी ऐसा ही मज़बूत होता। वह भरपेट खाता पीता है फिर भी बीमारी क्या चीज़ है यह शायद जानता तक नहीं। इसके विरुद्ध मैं हर मिनिट बीमार रहता हूँ। अगर मैं अपने मस्तिष्क से इसका शरीर बदल ले सकता तो कितने गुना खुश होता। यह सारा विश्व एक लहर है और पोला है। ऐसी कोई लहर नहीं जो पोली न हो। समतोलता सब दूर अनुस्यूत है। तुम्हारे पास एक वस्तु बड़ी है तो तुम्हारे पड़ोसी के पास दूसरी। जब तुम पुरुष या स्त्री की योग्यता ठहराते हो तो उनके बड़प्पन के अलग अलग दण्डक से ठहराओ।

एक दूसरे का स्थान नहीं ग्रहण कर सकता। किसी को भी यह 'दूसरा दुष्ट है' ऐसा कहने का अधिकार नहीं है। यह वही पुराना अन्धविश्वास है जो कहता है, "अगर तुम ऐसा करोगे तो संसार ही नष्ट हो जावेगा।" यह चलता ही आ रहा है और फिर भी संसार आज तक नष्ट नहीं हुआ। इस देश में ऐसा कहा जाता था कि अगर निग्रो मुक्त कर दिये जांय तो संसार रसातल को पहुंच जावेगा। क्या ऐसा हुआ? लोग ऐसा कहते थे कि अगर साधारण जनता में ज्ञान का प्रसार होगा तो दुनिया का नाश हो जावेगा, इस ज्ञान प्रसार ने तो उन्नति ही की। कई वर्ष पहले एक किताब छपी थी जिसमें यह चित्र खींचा था कि इंग्लैंड का सब में बुरा क्या हो सकता है। लेखक ने यह दिखलाया था कि मज़दूरी बढ़ती जा रही है और इंग्लैंड का व्यापार घटता जा रहा है। ऐसा चिल्लाना शुरू हुआ कि अंग्रेजी मज़दूर बेहद मज़दूरी माँगते हैं और यह बतलाया गया कि जर्मन मज़दूर बहुत कम वेतन पर काम करते हैं। इस विधान की परीक्षा करने के लिए एक समीति (Commission) जर्मनी भेजी गई। और रिपोर्ट यह निकली की जर्मनी के मज़दूर तो अधिक वेतन पाते हैं। ऐसा क्यों? क्योंकि साधारण जनता में साक्षरता का प्रसार है। साधारण जनता पढ़ी लिखी होने से दुनिया नष्ट होने वाली थी न अब कैसे? खासकर हिन्दुस्थान में तमाम देश भर ऐसे बूढ़े खुसूट बहुत हैं जो सारा ज्ञान साधारण जनता से गुप्त रखना चाहते हैं। इस कल्पना में वे अपना बड़ा समाधान कर लेते हैं कि सारे विश्व के उत्तमों में उत्तम वे हैं। वे समझते हैं कि (साक्षरता के) ये भयानक प्रयोग उनका नुकसान नहीं कर सकते। यह सिर्फ़ साधारण जनता ही है जिसका (साक्षरता से) नुकसान हो जावेगा।

अच्छा, फिर अब अपने व्यवहार्य (आत्मबोध) की ओर झुकें। मानसशास्त्र का व्यवहार में उपयोग करने की ओर हिन्दुस्थान ने बहुत पुरातन काल से ध्यान दिया है। ईसा के करीब १४०० वर्ष पूर्व हिन्दुस्थान में एक बड़ा वेदान्ती हो गया है जिसका नाम 'पातंजली' था। उसने उपलब्ध सिद्धान्त, प्रमाण तथा मानसशास्त्र के अन्वेषणों का लाभ उठाकर और (पिछले) सब अनुभवों का फायदा लेकर सत्य संकलित किये। यह न भूलना चाहिए कि दुनिया बहुत पुरानी है। ऐसा मत समझो कि यह सिर्फ दो तीन हजार वर्ष पूर्व रची गई है। इधर तुम पाश्चिमात्यों को नया अहदनामा यह सिखलाता है कि समाज का आरंभ १८०० वर्ष पूर्व हुआ। इसके पहले दुनिया में कोई समाज न था। यह बात पश्चिमी गोलार्ध के बारे में सच हो। लेकिन सारी दुनिया को यह सत्य नहीं लागू होता। जब मैं लंडन में भाषण दिया करता था एक बुद्धिमान और पढ़ा लिखा मेरा मित्र मुझसे वादविवाद किया करता था। एक दिन सारे शस्त्र चला चुकने के बाद वह एकदम बोल उठा, "लेकिन यह तो कहो कि तुम्हारे ऋषि इस हमारी विलायत को ज्ञान देने क्यों नहीं आये?" मैंने जवाब दिया, "तब विलायत थी ही कहां जो ज्ञान देने आते? क्या वे जंगलों को सिखलाते?"

इंगरसॉल ने मुझसे कहा था कि "अगर तुम पचास साल पहले यहां ज्ञान सिखलाने आते तो या तो तुम्हें फाँसी पर चढ़ा दिया जाता या जिन्दा जला दिया जाता या तो पत्थर मार मारकर तुम्हें गांव से बाहर ही निकाल दिया जाता।"

इसलिये यह बिलकुल अजीब नहीं कि संस्कृति ईसा के १४०० वर्ष पूर्व शुरु हुई हो। यह बात अभी तक निश्चित नहीं हुई है कि

संस्कृति का आरम्भ सदा अधस्तल से उच्चततल की ओर ही हुआ है।
यह सिद्धान्त प्रस्थापित करने के लिए जो आधार पेश किये गये हैं
उनसे यह भी सिद्ध किया जा सकता है कि आज का जंगली समाज
एक समय के उन्नत समाज का अधःपतित स्वरूप है।

अब चीन के लोगों का ही उदाहरण लो। उनका कभी इस बात पर विश्वास ही नहीं बैठ सकता कि संस्कृति का उदय जंगली हालत से हुआ है। उनका अनुभव इसके बिलकुल प्रतिकूल है। लेकिन जब तुम अमेरिका की संस्कृति के बारे में बोलते हो तो तुम्हारा मतलब यह रहता है कि तुम्हारी जाति का उदय कब हुआ और वह कब शाश्वत हुई।

जिन हिन्दुओं का आज ७०० वर्षों से पतन हो रहा है वे अवश्य एक जमाने में खूब सुसंस्कृत रहे होंगे यह विश्वास करना बिलकुल सुलभ है। इसके प्रतिकूल हम प्रमाण उपस्थित नहीं कर सकते।

ऐसा एक भी उदाहरण नहीं है कि जहां संस्कृति खुद ब खुद पैदा हो गई हो। दूसरी सुसंस्कृत जाति आकर न मिली और एक जाति (समाज) उन्नत हो गई ऐसा कभी नहीं हुआ। संस्कृति का उदय एक या दो जातियों में हुआ होगा और फिर ये जातियां दूसरी जातियों से मिली, उनमें अपने विचार फैलाये और इस तरह संस्कृति का विस्तार हुआ।

व्यवहार्य विषय बोलने हैं तो आजकल की शास्त्रीय भाषा में बोलना चाहिये। लेकिन मुझे तुम्हें सचेत कर देना चाहिए कि जिस तरह धर्म में अन्धविश्वास है उसी तरह शास्त्रीय विषयों में भी अन्धविश्वास रह सकता है। जिस तरह से कुछ आचार्य होते हैं जो धर्म

का अध्ययन कर धर्म सिखलाना ही अपना कर्तव्य समझते हैं उसी तरह भौतिक सिद्धान्तों को सिखलाने वाले आचार्य भी होते हैं। वे हैं विज्ञानाचार्य (scientists)। ज्योंही डार्विन या हॅक्स्ले जैसे शास्त्रज्ञ का नाम लिया जाता है त्योंही हम आँख मींच कर उसका अनुकरण करने लगते हैं। यह तो फैशन ही बन बैठा है। सैंकड़ा नव्वे शास्त्रीय ज्ञान सिर्फ़ अप्रमाणित उपपत्ति ही होता है। और इसमें से बहुत सा तो अनेक हाथ और सिर वाले मूर्तों में अंधविश्वास से अधिक अच्छा नहीं होता। फ़र्क़ इतना ही है कि इस दूसरी उपपत्ति में मनुष्य को पत्थरों से और ढंठलों से कुछ थोड़ा अलग माना है। सच्चा ज्ञान हमें सावधान रहने को सिखलाता है। जिस तरह उपदेशकों से हमें सावधान रहना चाहिए उसी तरह शास्त्रज्ञों से भी हमें सावधान रहना चाहिए। प्रथम अविश्वास से आरम्भ करो। छान बीन करो, परीक्षा लो और प्रत्येक वस्तु का प्रमाण माँगने के बाद उसे स्वीकार करो। आजकल के विज्ञान के बहुत से प्रचलित सिद्धान्त जिनमें कि हम विश्वास करते हैं प्रमाणित नहीं हुये हैं। गणित जैसे शास्त्र में भी सिद्धान्तों का एक विस्तृत अधिकांश ऐसा है कि जो मान लिये हुए सिद्धान्त (Hypotheses) हैं। जब ज्ञान की वृद्धि होगी तो ये धुतकार दिये जावेंगे।

ईसा के १४०० वर्ष पूर्व एक बड़े महात्मा ने मानसशास्त्र के कुछ सत्यों की सुव्यवस्था लगाने का और उनका विश्लेषण कर सिद्धान्तनिकर्ष करने का प्रयत्न किया था। उसके बाद उसके अनेक अनुयायी आये जिन्होंने उसके संशोधित ज्ञान के अंश उठा लिये और उनका अध्ययन खास तौर से शुरु किया। पुराने मनुष्यों में

सिर्फ़ हिन्दुओं ने ही ज्ञान के इस विभाग का अध्ययन मनःपूर्वक किया। मैं अब तुम्हें वही सिखलाऊंगा। लेकिन तुममें से कितने उसका अभ्यास करोगे? कितने दिन और कितने महीने बीतेंगे कि जिसके बाद तुम उसे छोड़ दोगे? इस विषय में अमल करना तो तुम लोग बिलकुल ही नहीं जानते। हिन्दुस्थान में मनुष्य युगानुयुग सावित कदम ही रहेंगे। तुम्हें सुनकर आश्चर्य होगा कि न तो उनका कोई गिरजाघर ही है और न तो 'समाज प्रार्थना' की पुस्तक। और न इस तरह के दूसरे साधन ही हैं फिर भी वे श्वासोश्वास का अभ्यास करेंगे और मन को एक लक्ष्य में स्थिर करने का प्रयत्न करेंगे। उनकी भक्ति का मुख्य अंश यही है। यह तो उस देश का धर्म है। हां, उनके श्वासोश्वास लेने का और मन को एकाग्र करने का कोई खास तरीका हो सकता है। और यह आवश्यक नहीं कि उनकी स्त्री भी स्वयं वह तरीका जाने। शायद बाप और लड़का भी न जाने। लेकिन हिन्दुओं को ये अभ्यास करने ही होते हैं। इन अभ्यासों में कोई 'गुप्त रहस्य' नहीं हैं। 'गुप्त रहस्य' यह शब्द भी इनको लागू नहीं होता। हजारों मनुष्य गंगा के किनारे आँख बंदकर ध्यान लगाये हुए श्वासोश्वास का अभ्यास करते हुए बैठे रहते हैं। बहुजन समाज कोई कोई अभ्यास अमल में नहीं ला सकते इसके दो कारण हो सकते हैं। पहिली तो बात यह है कि गुरुओं के मत से बहुजन समाज इस अभ्यास के योग्य नहीं होता। इस मत में कुछ सत्यांश हो सकता है, लेकिन अधिक सच्चा कारण है योग्य मार्गदर्शक का अभाव. दूसरा कारण है धर्म के नाम पर अत्याचार का (Persecution) डर। उदाहरणार्थ इस देश में आम तौर से प्राणायाम करना कोई पसंद न करेगा। क्योंकि लोग उसे समझेंगे क्या अजीब

जीव है यह। इस देश का यह रिवाज (Fashion) ही नहीं है। इसके विरुद्ध हिन्दुस्थान में कोई अगर ऐसी प्रार्थना करे कि "आज के दिन, हमें हमारी हर रोज की रोटी दे" तो उसे लोग हँसेंगे। "हे पिता, जो तू स्वर्ग में रहता है" इसके समान तो हिन्दुओं की दृष्टि से दूसरी मूर्खता की कल्पना नहीं हो सकती। जिस वक्त हिन्दू उपासना करने बैठता है तो परमेश्वर उसी के अन्दर विराजमान है ऐसा वह समझता है।

योगियों के मत से मुख्यतः तीन नाड़ियाँ हैं। पहिली 'इडा,' दूसरी 'पिंगला' और बीच की 'सुषुम्ना'। तीनों मेरुदण्ड के अन्तर्गत रहती हैं। दाहिनी 'इडा' और बाँई पिंगला ये तंतु ग्रंथियाँ हैं। बीच की सुषुम्ना यह नाड़ियों की ग्रंथी नहीं है। वह पोली है। सुषुम्ना बन्द रहती है और साधारण मनुष्य को इसका कोई उपयोग नहीं है। वह 'इडा' और 'पिंगला' ही से अपना काम लिया करता है। इन्हीं नाड़ियों द्वारा लगातार वार्ताएँ आती जाती रहती हैं और संपूर्ण शरीर में फैले हुए ज्ञानतंतुओं द्वारा शरीर की पृथक् पृथक् इन्द्रियों तक ये नाड़ियाँ हुक्म पहुंचाती हैं।

इडा और पिंगला का व्यवहार नियंत्रित करना और उनमें नियमित गति (Rhythm) उत्पन्न करना यह 'प्राणायाम' का एक बड़ा काम है। लेकिन यह कार्य स्वयं बहुत बड़ा नहीं है। यह सिर्फ अपने फेफड़ों में काफी हवा लेना है और खून साफ करने के अलावा इसका कोई विशेष उपयोग नहीं। श्वासोश्वास द्वारा हवा फेफड़ों में खींचना और उसके द्वारा खून साफ करना इसमें कोई गुप्त रहस्य नहीं है। यह प्रतिक्रिया हलचल मात्र है। इस हलचल

का एक मान गति में परिवर्तन करना यही 'प्राण' कहलाता है। शरीर में सब दूर जो कुछ हलचल होती है वह इन प्राणों का ही आविष्कार है। **प्राण से मतलब बिजली है।** प्राण यह लोहचुंबक शक्ति है। मस्तिष्क इसे विचार के स्वरूप में फेंकता है। सर्व वस्तुएँ प्राणमय हैं। इस प्राण ही के ज़ोर पर सूर्य, चंद्र, तारे ये चलायमान हैं।

हम कहा करते हैं कि इस विश्व में जो कुछ विद्यमान है वह सब प्राण की लहरों का कार्य है। प्राण की उच्चतम लहरें ये ही विचार रूप से फलती हैं। इस से परे अगर कुछ है तो वह हमारी विचारशक्ति के बाहर है। इन्हीं प्राणों द्वारा 'इडा' और 'पिंगला' का कार्य होता है। शरीर के प्रत्येक विभाग में प्राण ही खेलता है और विभिन्न शक्तियों का रूप लेता है। 'राम झरोखे बैठकर सबका मुजरा लेय। जैसी जाकी चाकरी वैसो वाको देय'॥ यह पुरानी कल्पना तुम छोड़ दो। जब हम काम करते हैं तो थक जाते हैं क्योंकि हम कितना प्राण खर्च कर देते हैं।

श्वासोश्वास के अभ्यास को ही हम प्राणायाम कहते हैं। प्राणायाम से श्वासोश्वास नियमित होता है और प्राणों की क्रिया में 'संगीत चक्र' उत्पन्न होता है। जब प्राणों का क्रमबद्ध संचालन होता है तो सारा काम सुयंत्रित चलने लगता है। जब योगियों का शरीर उनके वश हो जाता है और फिर शरीर के किसी अंग में रोग उत्पन्न होता है तो वे समझ लेते हैं कि उस अंग में प्राण का क्रमबद्ध संचालन नहीं हो रहा है। वे फिर अपने प्राणों को उस रुग्णांग की ओर गतिमान करते हैं जब तक कि क्रमबद्ध संचालन फिर से न शुरू हो जावे।

जिस तरह तुम अपने शरीर के प्राणों पर अपना अधिकार चला सकते हो उसी तरह अगर तुम्हारे प्राण काफी शक्तिमान हों तो यहां रह कर वहां हिन्दुस्थान के मनुष्यों के प्राणों पर तुम अधिकार चला सकते हो। प्राण यहां से वहां तक एक वस्तु है। कहीं पर खण्ड नहीं है। एकत्वभाव यही इसका लक्षण है। आधिभौतिक, आधिदैविक, मानसिक, नैतिक और आध्यात्मिक सभी दृष्टियों से वह एक है। जीवन यह सिर्फ उसकी लहर है। जो शक्ति ईथर (आकाश तत्व) में लहरें उत्पन्न करती है वही तुम्हें सचेतन रखती है। जिस तरह सरोवर में अलग अलग आकार और अलग अलग घनत्व के बर्फ के धरातल होते हैं या जिस तरह वाष्पोदधि में विभिन्न घनत्वांश होते हैं उसी तरह यह विश्व जड़ सृष्टि का एक समुद्र है। सूर्य, चंद्र, तारे और हम खुद भी इस आकाशतत्व-रत्नाकर में अलग अलग घनत्व की मर्यादाएँ हैं। लेकिन उस आकाशतत्व का ऐक्यभाव यहां से वहां तक एक है। वह बिलकुल खण्डित नहीं है।

जब हम दर्शनशास्त्र का अध्ययन करते हैं तो हमें यह ज्ञान होता है कि संपूर्ण विश्व एक है। आध्यात्मिक, (पंच) भौतिक अथवा मानसिक जगत और चेतन जगत ये स्वतंत्र नहीं हैं। वह तत्व यहां से वहां तक एक है। सिर्फ अलग अलग दृष्टिकोन से देखे जाने के कारण विभिन्न प्रतीत होता है। मैं शरीर हूँ इस भावना से जब तुम अपनी ओर देखते हो तो मैं मन भी हूँ यह भूल जाते हो। और जब तुम अपने को मनोरूप देखने लगते हो तो तुम्हें तुम्हारे शरीरत्व की विस्मृति हो जाती है। विद्यमान वस्तु सिर्फ एक है और वह है 'तुम'। वह तुम्हें या तो प्रकृति के या शरीर के रूप में दिख सकती है या मन अथवा आत्मा के रूप में।

जन्म, जीवन, मरण ये उस पर सिर्फ़ पुराने अभ्यास मात्र हैं। न कोई कभी मरता है, और न कोई कभी जन्म लेगा। वह एक स्थिति से दूसरी स्थिति में जाता है। बस यही बात है। इधर पाश्चात्यों को मृत्यु का वतंगड़ बनाते देख मुझे बहुत दुःख होता है। जीवन जैसे छिना लेने की कोशिश करते रहते हैं। "मृत्यु के बाद फिर हमें जन्म दो—फिर हमें जीवन दो।" अगर कोई आवे और उन्हें बतावे कि मृत्यु के बाद भी वे जिन्दा रहेंगे तो वे कितने खुश होते हैं। इसमें मैं अविश्वास किस तरह कर सकता हूँ। मैं मृत हूँ यह मैं किस तरह सोच सकता हूँ। तुम अपने को मरा सोचने की कोशिश करो और तुम देखोगे कि मृत शरीर से विभिन्न 'तुम' फिर भी विद्यमान रहते हो। जीवन यह ऐसा आश्चर्यमय सत्य है कि तुम एक क्षण भी उसका विस्मरण नहीं कर सकते। तुम्हें भले ही यह शंका आ सकती है कि मैं जिन्दा हूँ। 'अहमास्मि' अर्थात् मैं हूँ यह उद्बोधन की पहिली अवस्था है। जिसका कभी अस्तित्व न था उसकी कल्पना ही कौन कर सकता है? अर्थात् जीवन सब सत्यों में प्रथम प्रत्यक्ष सत्य है। इसी तरह अमरत्व की कल्पना मनुष्य में स्वयं स्फूर्त है। जो विषय कल्पनातीत है उस पर मनुष्य विवाद ही क्योंकर कर सकता है? जो विषय स्वयं प्रत्यक्ष है उसके अस्तिपक्ष और नास्तिपक्ष की चर्चा ही क्योंकर हमें करनी चाहिए?

इसलिए चाहे किसी दृष्टि ही से हम देखें यह संपूर्ण विश्व एक व्यापिनी वस्तु है। अभी हमारे लिये यह विश्व, आकाशतत्व, प्राण और प्रकृति ऐक्यभाव में हैं। और आप लोग ख्याल रखें कि इतर मूलभूत सिद्धान्तों के समान यह सिद्धान्त भी स्वयं विरोधी है। क्योंकि शक्ति (Force) क्या है? वह जो प्रकृति में गति या संचालना

उत्पन्न करती है। और प्रकृति (matter) क्या है? प्रकृति वह है जो शक्ति से संचालित हो। यह तो चक्करभूला है। हमें शास्त्रीय आविष्कारों का और ज्ञान का अभिमान होते हुए भी हमारे कोई कोई मूलभूत सिद्धान्त बिलकुल अजीब हैं। जैसा कि संस्कृत सुभाषित में कहा है यह 'बेसिर का सिर दर्द है।' इस वस्तुस्थिति का नाम है 'माया'। न तो वह विद्यमान ही है और न तो अविद्यमान ही। यह विद्यमान है ऐसा तुम इसलिए नहीं कह सकते कि वही वस्तु सिर्फ विद्यमान कहलाती है जो काल और स्थान से परे हो और स्वयं सिद्ध या विद्यमान हो। फिर भी इस दुनिया से कुछ अंशों में हमें अस्तित्व का समाधान मिलता है। इसलिए इस दुनिया को बाह्यतः अस्तित्व है।

लेकिन प्रत्येक वस्तु के अंतरंग में और उस वस्तु में व्यापक ऐसी सत्य वस्तु अस्तित्व में है। और यह सत्य वस्तु काल, स्थान, तथा कार्यकारणभाव के व्यूह में फँसी सी है। रूपा पुरुषभाव (दुनिया में) विद्यमान है। वह अनन्त है, वह अमर्याद है, वह अनादि और अन्तरहित है, वह आनन्दमय है, वह स्वतंत्र है, वही काल, स्थान, परिणाम के फेर में फँसा है, प्रत्येक वस्तु में का सत्यत्व वही अमर्याद वस्तु है। ये कुछ मन के लड्डू नहीं हैं। यह वह दुनिया नहीं है कि जो विद्यमान न हो। इसका सापेक्ष अस्तित्व है। और अस्तित्व के संपूर्ण गुणधर्मों से संयुक्त है। लेकिन उसका स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है। वह इसलिये विद्यमान है कि उसके परे कालातीत, स्थानातीत, कार्यकारणभावातीत निरपेक्ष सत्य विद्यमान है।

मैंने बहुत बड़ा विषयान्तर किया है। अब अपने पूर्वपद पर फिर आवें।

सब हलचल या क्रिया चाहे वह चेतनायुक्त हो और चाहे स्वयंभव हो प्राण ही की प्रतिक्रियाएँ हैं, जो नाड़ियों द्वारा की जाती हैं। इस पर से तुम्हें अब ज्ञात होगा कि स्वयंभव क्रियाओं पर अपना अधिकार चलाना यह एक अच्छी बात है।

एक दूसरे मौके पर मैंने तुम्हें मनुष्य और परमेश्वर की व्याख्या बतलाई थी। मनुष्य यह अमर्याद वृत्त (Circle) है जिसकी परिधि की कोई सीमा नहीं लेकिन जिसका केन्द्र निश्चित है और परमेश्वर एक ऐसा वृत्त (Circle) है जिसकी परिधि किसी स्थान में नहीं है और जिसके केन्द्र हर स्थान में हैं। जितने हाथ हैं, जितनी आँखें हैं, जितने पैर हैं, जितने शरीर हैं, जितने जीवन हैं, जितने मुख हैं और जितने मस्तिष्क हैं उन सब से वह काम करता है, देखता है, चलता है, सांस लेता है, ज़िन्दा रहता है, बोलता है और विचार करता है। अगर मनुष्य अपनी स्वयंचेतनावस्थाका केन्द्र बहुगुणित करे तो परमेश्वर बन सकता है और संपूर्ण विश्व पर अपना अधिकार चला सकता है इसलिए चेतनावस्था का ज्ञान कर लेना यह परमावश्यक है। हम ऐसा कहेंगे कि असीम अंधेरे में यह एक अमर्याद रेखा है। हम वह रेखा नहीं देख सकते लेकिन उस रेखा पर एक जलता हुआ बिन्दु है जो गतिमान है। इस रेखा के सहारे जैसे जैसे वह बिन्दु आगे बढ़ता है वह विभिन्न भागों पर क्रमशः प्रकाश डालता है और जो हिस्से पिछलते जाते हैं वे फिर से अंधेरे में आते जाते हैं। हमारी चेतनावस्था को बखूबी इस प्रकाशमान बिन्दु की उपमा दी जा सकती है। वर्तमान ने उसके गत अनुभवों का स्थान ले लिया है या ऐसा कहो कि वे प्रसुप्त चेतनावस्था में जा चुके हैं। उनके अस्तित्व का हमें बोध नहीं होता फिर भी वे विद्यमान हैं। और हमारे मन पर

और शरीर पर अप्रत्यक्ष परिणाम किये जा रहे हैं। इस क्षण जो जो कार्य चैतन्यावस्था की मदद लिये विना ही बनते दिखाई दे रहे हैं वे उस क्षण पूर्व चैतन्यावस्था में थे। अब उनमें इतनी गति आगई है कि वे स्वयं ही कार्य कर सकते हैं।

सब धर्मग्रंथों का, विना किसी अपवाद के, यह एक बड़ा दोष है कि उन्होंने उन मार्गों का कभी उपदेश नहीं दिया जिसके द्वारा मनुष्य बुरा करने से अपने को रोक सके। सब ही धर्मग्रंथ कहते हैं कि "चोरी मत करो।" ठीक है। लेकिन मनुष्य चोरी ही क्योंकर करता है? कारण यह कि चोरी, डाका, दुर्व्यवहार ये साधारणतः स्वयंभव क्रियाएँ बन बैठी हैं। बुद्धिपुरस्सर डाका डालने वाले, या चोर, झूठे अन्यायी मनुष्य या औरत ऐसे इसलिये हैं कि अन्यथा होना उनके हाथ नहीं। सचमुच यह मानसशास्त्र के लिए एक बड़ी विकट समस्या है। मनुष्य की तरफ हमने बड़ी दानत की दृष्टि से देखना चाहिए। अच्छा मनुष्य बनना यह कुछ इतना सुलभ नहीं है। जब तक तुम स्वतंत्र न बनो एक यंत्र के अलावा तुम क्या हो? क्या तुम्हें अभिमान होना चाहिए इसलिए कि तुम अच्छे मनुष्य हो? बिलकुल नहीं। तुम इसलिए अच्छे हो कि तुम अन्यथा हो नहीं सकते। दूसरा मनुष्य इस लिए बुरा है कि अन्यथा होना उसके अधिकार में नहीं। अगर तुम उसकी जगह होते तो कौन जानता है कि तुम क्या बनते? सड़क पर की औरत और जेल में का चोर वह येशू ख्रिष्ट है जो इसलिए सूली पर चढ़ाया गया है कि तुम अच्छे बनो। समवस्था (Balance) का यह ऐसा नियम है। सब चोर और सब खूनी, सब अन्यायी और पतित अथवा बदमाश या राक्षस मेरे येशू ख्रिष्ट हैं। इन देवरूपी क्राईस्ट और इन दानवरूपी क्राईस्टों को

पूजना यही मुझ पर कर्ज़ा है। यह मेरा सिद्धान्त है और मैं अन्यथा नहीं कर सकता। मैं अच्छे और साधु पुरुषों को प्रणाम करता हूँ और बदमाश और शैतानों के पैर पर भी मेरा सिर नमता है। वे सभी मेरे गुरु हैं, मेरे धर्मोपदेशक आचार्य हैं, मेरे परित्राता हैं। मैं चाहे किसी एक को शाप दूं और फिर उसी के दोषों से मेरा लाभ निकले। दूसरे को मैं आशीर्वाद दूं और उसके शुभ कर्मों से मेरा लाभ हो। यह इतना सच है जितना कि मैं तुम्हारे सामने खड़ा हूँ यह सच है। सड़क पर चलती हुई स्त्री को मुझे इसलिए धुतकारना पड़ता है कि समाज यह चाहता है। आह वह! वह मेरी परित्रायिणी, वह सड़क पर चलने वाली, वह जिसके सड़क पर चलने ही के कारण दूसरी स्त्रियों का सतीत्व सुरक्षित रहा उसका विचार करो! पुरुषों और वनिताओं, इस प्रश्न को जरा अपने मन में सोचो। यह सत्य है —यह बिलकुल सत्य है। मैं जितना ही अधिक दुनिया देखता हूँ, जितना ही अधिक मनुष्यों और स्त्रियों के सम्पर्क में आता हूँ तो मेरा विश्वास दृढ़तर होता जाता है। मैं किसे दोष दूं? मैं किसकी तारीफ़ करूं। मनुष्य रूपी ढाल के दोनों बाजू ही देखना चाहिए।

हमारे सामने बहुत बड़ा कार्यक्षेत्र है। और इसमें सर्व प्रथम और सब से महत्व का काम है हमारे असीम प्रसुप्त विचारों पर और हमारी स्वयंभव क्रियाओं पर अधिकार चलाना।

यह बात सच है कि दुर्व्यवहार मनुष्य के जागृत क्षेत्र में विद्यमान रहता है लेकिन जिन कारणों ने इस बुरे काम को जन्म दिया वे इससे परले प्रसुप्त और अदृश्य जगत के हैं और इसलिए अधिक प्रभावशाली हैं।

व्यवहार्य मानसशास्त्र प्रथम हमें यह सिखलाता है कि अपनी प्रसुप्त शक्तियाँ अपने अधिकार में हम किस तरह रक्खें। हम जानते हैं कि हम ऐसा कर सकते हैं। ऐसा क्यों? कारण यह है कि हम जानते हैं कि प्रसुप्त भाव ये जागृत भाव के परिणाम हैं। हमारे जो लाखों पुराने जागृत भाव हैं वे ही डूबने पर हमारे प्रसुप्त भाव बन जाते हैं। पुराने जागृत भाव घनीभूत होते जाते हैं। हमारा उधर ख़्याल नहीं जाता, हमें उनका ज्ञान नहीं होता, हम उन्हें भूल जाते हैं। लेकिन देखो, ख़्याल रहे, कि प्रसुप्त भावों में अगर बुरा करने की शक्ति है तो उनमें अच्छा करने की भी शक्ति है। जिस तरह पार्सल में बहुत सी चीज़ें बंद होती हैं उसी तरह बहुत सी बातें हमारे नसीब में होती हैं। उन्हें हम भूल गये हैं, हम उनका विचार तक नहीं करते, और उनकी संख्या भी बहुत है, वहीं सड़ते पड़ी हैं और वास्तव में भयानक बनती जा रही हैं। ये ही प्रसुप्त कारण आगे बढ़ आते हैं और विश्व का नाश कर देते हैं। इसलिए सच्चा मानसशास्त्र इस बात की कोशिश करेगा कि इन प्रसुप्त भावों को जागृत भावों के स्वाधीन रक्खे। संपूर्ण मनुष्यत्व का आविष्कार करना ताकि मनुष्य अपना पूर्ण स्वामी बन जावे, एक बड़ा कार्य है। हमारे शरीर की अन्तर्गता स्वयं कार्यकारिणी इन्द्रियाँ, उदाहरणार्थ यकृत को भी हम अपना हुक्म मानने के लिये लगा सकते हैं।

प्रसुप्त जग को अधिकार में रखना यह हमारे अभ्यास का पहिला भाग है। दूसरा है जागृत जगत के परे जाना। जिस तरह प्रसुप्त जग जागृत जगत के नीचे कार्य करता रहता है उसी तरह जागृत जगत के ऊपर भी एक जगत है। जब मनुष्य इस अति जागृता-वस्था को पहुंच जाता है तो वह स्वतंत्र बन जाता है, उसमें दैवी शक्ति

आ जाती है। मृत्यु अमरत्व में परिणत हो जाती है, कमज़ोरी असीम ताकत बन जाती है और लोहे के बंधन भी मुक्त हो जाते हैं यह अतीत जागृतावस्था का क्षेत्र है जो हमारा ध्येय है।

इसीसे यह स्पष्ट होता है कि हमको एक ही वक्त दो काम करने होंगे। एक तो है, शरीर में स्थित इडा और पिंगला के प्रवाहों को नियमित कर, अनजाने होते हुये कार्यों को नियमित करना, और दूसरा है, साथ ही साथ जागृतावस्था के भी परे जाना।

ग्रंथों में कहा है कि वही योगी है जो चिरकाल एकाग्र चित्तता का अभ्यास करके इस सत्य को पहुंच जाता है। अब 'सुषुम्ना' का द्वार खुल जाता है और इस मार्ग से वह प्रवाह शुरू हो जाता है जो इसके पहिले कभी न था और वह (जैसा कि अलंकारिक भाषा में कहा है) धीरे धीरे अनेक कमलों को जागृत करता हुआ आखिर मस्तिष्क तक पहुंच जाता है। तब योगी को उसकी वास्तवता का ज्ञान होता है यानी कि वह ही स्वयं परमेश्वर है।

हममें से प्रत्येक, और बिना किसी अपवाद के, योग की इस अन्तिम अवस्था को प्राप्त कर सकता है। लेकिन यह दुस्तर कार्य है। अगर मनुष्य को इस सत्य का अनुभव लेना हो तो सिर्फ़ भाषण सुनने और श्वासोश्वास की थोड़ी सी क्रियाओं का अभ्यास करने के अतिरिक्त कुछ विशेष साधना होगा। महत्व है तैयारी ही को। दीपक जलाने को कितनी सी देर लगती है? लेकिन वह मोमबत्ती बनाने में कितना अधिक समय लग जाता है। खाना खाने में कितनी सी देर लगती है? शायद आधा घंटा। लेकिन वही खाना पकाने के लिए कितने घंटे लग जाते हैं। हम चाहते हैं कि दीप एक क्षण में लग

जावे लेकिन हम भूल जाते हैं कि मोमबत्ती बनाना ही महत्व का भाग है।

ध्येय साधना इस तरह यद्यपि बहुत कठिन है तथापि हमसे किये हुए बिलकुल छोटे छोटे प्रयत्न भी फिजूल नहीं जाते। हम जानते हैं कि कोई भी वस्तु नष्ट नहीं होती। गीता में अर्जुन ने भगवान् श्रीकृष्ण से प्रश्न किया है कि वे मनुष्य जिनकी योगसाधना इस जन्म में सिद्ध नहीं हुई किस दशा को प्राप्त होते हैं? क्या वे ग्रीष्मकाल के मेघों की तरह नष्ट हो जाते हैं? श्रीकृष्ण ने उत्तर दिया, ' पुत्र, कोई भी वस्तु कभी नष्ट नहीं होती। जो कुछ मनुष्य एक बार अपना लेता है वह उसीका हो जाता है। और अगर योग की सिद्धि इस जन्म में न हुई तो दूसरे जन्म में मनुष्य फिर वह अभ्यास आरंभ कर देता है। नहीं तो क्राईस्ट, बुद्ध या शंकराचार्य के अलौकिक बालकपन का स्पष्टीकरण तुम कैसे दोगे?

आसन, प्राणायाम इत्यादि योग के मददगार अवश्य हैं लेकिन वे सिर्फ शारीरिक हैं। महत्व का पूर्वाभ्यास है मानसिक। सब से प्रथम तो यह आवश्यक है कि हमारा जीवन शान्ततापूर्ण और समाधानयुक्त हो।

अगर तुम योगी बनना चाहते हो तो तुम्हें स्वतंत्र बनना चाहिये और अपने आसपास ऐसी परिस्थिति निर्माण करनी चाहिये कि तुम एकान्त, स्वतंत्र और निश्चिंत रह सको। अगर तुम्हें भोगयुक्त और सुखकर जीवन चाहिए और यह भी चाहते हो कि तुम्हें आत्मज्ञान हो जावे तो तुम उस मूर्ख मनुष्य के समान हो जिसने मगर को पकड़ रखा है और जिस मगर को वह काठ का टुकड़ा समझकर

उसके सहारे नदी को पार करना चाहता है। "प्रथम परमेश्वर के दरबार में पहुंचो और सब कुछ स्वयं आप तुम्हें मिल जायगा"। यही बड़ा कर्तव्य है यही वैराग्य है। किसी ध्येय के लिए ज़िन्दे रहो और मन में दूसरे कोई विचार आने के लिए अवकाश ही मत रखो। आओ, हम अपनी शक्तियाँ उधर लगावें जहाँ अपयश कभी हाथ नहीं आता—मतलब आत्मोन्नति की ओर। अगर हमें आत्मबोध की सचमुच लगन है तो हमें कोशिश करनी चाहिए और ऐसा करने से हमारी उन्नति होगी। हम गलतियाँ करेंगे। लेकिन शायद वे ही हमारे लिये अज्ञात देवदूत बन जावें।

आध्यात्मिक जीवन का सब से बड़ा सहारा है 'ध्यान'। ध्यान के योग से हम अपनी भौतिक भावनाओं से अपने आप को स्वतंत्र कर लेते हैं और आत्मीय जीवन का अनुभव करने लगते हैं। ध्यान करते समय हमें कोई बाहरी साधनों पर अवलम्बित नहीं रहना पड़ता। आत्मा का स्पर्श बिलकुल अंधियारी कोठरी में देदीप्यतम वर्ण चित्रित कर सकता है। बुरी से बुरी वस्तु में भी वह अपना सौरभ उत्पन्न कर सकता है। वह दुष्टतम मनुष्य को भी देवता बना देता है। संपूर्ण स्वार्थ भावनाएँ और संपूर्ण शत्रुभाव ही नष्ट हो जाते हैं। शरीर का जितना ही कम ख्याल हो उतना ही अच्छा। क्योंकि यह शरीर ही है जो हमारा अधःपात करता है। यह शरीर का लोभ, यह शरीर से तद्रूपत्व ही हमारे दुःखों का कारण है। यह है गुप्त रहस्य। 'मैं आत्मा हूँ, मैं शरीर नहीं हूँ, यह विश्व और उसके संपूर्ण भाव, उसकी भलाई और उसकी बुराई ये सिर्फ़ चित्रपट पर खिंची हुई विभिन्न रेखाकृतियाँ हैं और मैं उनका साक्षी मात्र हूँ,' यही सोचते रहना चाहिए।

आनन्दानुभूति का पथ

आज रात को मैं तुम्हें वेदों में लिखी हुई एक कहानी बतलाऊँगा। वेद ये हिन्दुओं के पवित्र ग्रंथ हैं। वेद ये साहित्य के विस्तृत संकलन हैं। अंतिम भाग कहलाता है 'वेदान्त' अर्थात् वेदों का पूर्ण विकास। वेदों में प्रतिपादित सिद्धान्त ही वेदान्त में विवेचना के विषय हैं, खासकर वह तत्वज्ञान जिससे हमारा सम्बन्ध है। वे आप संस्कृत भाषा में लिखे हैं। और स्मरण रहे कि वे हजारों वर्ष पूर्व लिखे गये हैं। वह एक ऐसा मनुष्य था जो बड़े बड़े यज्ञ करना चाहता था। हिन्दु धर्म में यज्ञों को बहुत बड़ा महत्व है। यज्ञ अनेक प्रकार के होते हैं। वे वेदियाँ बनाते हैं और अग्नि को आहुतियाँ समर्पण करते हैं, मंत्र पढ़ते हैं और भी विधि करते हैं और अन्त में ब्राह्मणों तथा गरीबों को भोजन देते हैं। प्रत्येक यज्ञ का कोई खास फल होता है। वह एक ऐसा यज्ञ था जिसमें मनुष्य को अपना सर्वस्व अर्पण कर देना पड़ता था। अब यह मनुष्य यद्यपि धनिक था तथापि कंजूस था। और फिर भी यह चाहता था कि यज्ञों में कठिनतम यज्ञ इसने किया है ऐसी उसकी कीर्ति हो। और इस यज्ञ में अपना सर्वस्व अर्पण करने के बदले उसने अपनी अन्धी, लंगड़ी और बूढ़ी गाएँ दीं जिन्होंने दूध देना बंद कर दिया था। लेकिन उसका एक लड़का था नाचिकेत नाम का। बड़ा होशियार लड़का था। जब उसने देखा कि पिता निकृष्ट दान दे रहा है और उसे निश्चय था कि इसका बुरा फल मिलेगा तो उसने निश्चय किया कि वह स्वतः को दान में अर्पण करके इस कमी की पूर्ति करेगा। इसलिए वह पिता के पास गया और पूछने लगा, "मुझे आप

किसे अर्पण करोगे?" पिता ने कुछ उत्तर न दिया। लड़के ने फिर वही प्रश्न दूसरी और तीसरी बार पूछा। पिता चिढ़ उठा। "मैं तुझे यमराज को दूंगा, मैं तुझे मृत्यु को अर्पण करूंगा।" बस, लड़का सीधा यमराज के दरबार को चला गया। यमधर्म घर पर न थे इसलिए वह उसकी राह देखने लगा। तीन दिन के बाद यमराज आये और बोले, "ब्राह्मण, तुम मेरे अतिथि हो, तुम्हें यहां तीन दिन भूखा रहना पड़ा। मैं तुम्हें अभिवादन करता हूँ और तुम्हारी तकलीफ के बदले में मैं तुम्हें तीन वर देता हूँ।" बालक ने कहा, "पहिले वर से तो मेरे पिता का मुझ पर का क्रोध नष्ट हो जावे।" दूसरा वर किसी एक यज्ञ के विषय में था और तीसरे वर में उसने यह पूछा कि "जब मनुष्य मरता है तो उसका क्या होता है? कोई कहते हैं कि उसका अस्तित्व नष्ट हो जाता है, दूसरे कहते हैं कि मरण के पश्चात् भी वह विद्यमान रहता है। मेरा यही तीसरा वर है कि आप मेरे इस प्रश्न का उत्तर दें।" तब मृत्युदेव बोले, "देवताओं ने भी यह रहस्य पुराने जमाने में जानने की कोशिश की थी। यह रहस्य सूक्ष्मतम होने से बोध के लिये बहुत कठिन है, इसलिए यह वर तू मत माँग। कोई दूसरा वर माँग ले। सौ साल का आयुष्य माँग ले, घोड़े माँग, पशु माँग, राज्य भी माँग ले लेकिन इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए मुझे मजबूर न कर। जो जो कुछ मनुष्य भोग करना चाहता है वह सब माँग ले मैं सब कुछ दूंगा लेकिन यह रहस्य जानने की इच्छा मत रख।" लड़के ने जवाब दिया, "नहीं महाराज, धन से मनुष्य का समाधान नहीं होता। अगर धन ही की इच्छा होती तो वह आपके दर्शन मात्र से मिल जाता। जब तक आप राज्य करते हैं तब तक हम जिन्दे भी रह सकते हैं। अधोलोक में रहने वाला मर्त्य जिसे कुछ ज्ञान है,

अमर और अनश्वर व्यापक सहवास प्राप्त कर दीर्घ जीवन का अथवा गाने बजाने और खेलकूद के सुख किस तरह चाहेगा? इसलिए इहलोक के अनन्तर आने वाली मनुष्य की स्थिति का यह बड़ा रहस्य ही मुझे बतलाओ। मैं दूसरा कुछ नहीं चाहता। मृत्यु का यह रहस्य ही नाचिकेत जानना चाहता है।" इस पर मृत्युदेव प्रसन्न हो गये। पिछले दो या तीन भाषणों में मैं यह कहता आया हूँ कि ज्ञान से मनुष्य का मन तैय्यार हो जाता है। इसलिए पहिली तैय्यारी यह कि मनुष्य सत्य के सिवाय किसी अन्य वस्तु की इच्छा न रखे। सत्यान्वेषण के लिए ही सत्य की अभिलाषा करे। देखो, इस बालक की ओर देखो। सिर्फ़ एक बात के लिए—सिर्फ़ ज्ञान के लिए, सिर्फ़ सत्यान्वेषण के लिए वह जमीन धन, लम्बी उमर इत्यादि सब ही कुछ जो यमराज उसे देने को उत्सुक थे त्यागने को तैय्यार हो गया। सत्य की गवेषणा इसी तरह हो सकती है। मृत्युदेव प्रसन्न हो गये। उन्होंने कहा, "ये दो मार्ग हैं, देखो, एक है भोग का और दूसरा आनन्दानुभूति का। मनुष्यसमाज को ये दो ही अनेक प्रकार से आकर्षित करते जाते हैं। वह मनुष्य जो साधु होता है आनन्दानुभूति का मार्ग स्वीकारता है। भोगमार्ग का स्वीकार करने वाले का पतन होता है; हे नाचिकेत, मैं तेरी तारीफ़ करता हूँ क्योंकि तूने वासनाएँ न माँगी। अनेक मार्गों से मैंने भोग के मार्ग की ओर तुझे लुभाने की चेष्टा की लेकिन इन सबको तूने इन्कार किया, तूने यह जान लिया है कि भोग की आयुष्य से ज्ञानमय जीवन कितना ही अधिक ऊँचा है।"

"तूने यह जान लिया है कि जो मनुष्य अज्ञान में रहकर भोग भोगता रहता है उसमें और पशु में कोई अन्तर नहीं। फिर भी

ऐसे कितने ही हैं कि जिनके हृदयों में अभिमान है और अज्ञान में डूबे हुये हैं और फिर भी समझते हैं कि वे सन्त हैं और इस वक्र मार्ग में चक्कर ही चक्कर लगाये जाते हैं जिस तरह एक अन्धा दूसरे अन्धे को राह दिखलावे। हे नाचिकेत, मूर्ख बालकों के समान जिन्हें चार मिट्टी के ढेले लुभाते हैं उन्हें यह ज्ञान नहीं मिल सकता।

वे न तो इस दुनिया को पहिचानते हैं और न दूसरी को। वे इस दुनिया का भी इन्कार करते हैं और दूसरी दुनिया का भी। और इसीलिए वार बार मेरे (मृत्यु के) वश में आते जाते हैं। बहुत से मनुष्यों को तो यह ज्ञान सुनने को भी नहीं मिलता और दूसरे जो सुनते है समझ नहीं सकते। क्योंकि गुरु आश्चर्यजनक व्यक्ति होना चाहिए और शिष्य भी जिसे यह ज्ञान दिया जाता है। अगर वक्ता अच्छा अनुभवी न हो चाहे यह ज्ञान सौ वार सुना जाय और सौ वार मन में दुहराया जाय तौभी हृदय के ऊपर सत्य का प्रकाश न पड़ेगा। फिजूल वाद से अपना मन अशान्त न करो। नाचिकेत, यह ज्ञान उसी हृदय पर प्रकाशमान होता है जो हृदय पवित्र है। असीम प्रयत्न किये विना जिसका दर्शन नहीं होता, जो गुप्त है, हृदय के परे जो गुहा में निहित है, जो पुराण पुरुष है, इन प्राकृत नेत्रों से जो देखा नहीं जा सकता उसे आत्मा के नेत्रों से देखकर मनुष्य सुख और दुःख दोनों ही से अतीत हो जाता है। जिसे यह रहस्य मालुम है वह अपने संपूर्ण निरर्थक विचारों का त्याग कर देता है और उसे यह दिव्य दर्शन होने के वाद वह आनन्दानुभव करने लगता है। हे नाचिकेत, आनन्दानुभूति का यही मार्ग है। वह सद्गुणातीत है, वह दुर्गुणातीत है, वह धर्म से परे है, वह अधर्म से भी परे है, वह वर्तमान से भी अतीत है और भविष्य से भी अतीत है। जो यह जानता है उसी ने

जाना है। जिसे सब वेद ढूंढते हैं जिसका दर्शन होने के लिए लोग अनेक प्रकार की तपश्चर्या करते हैं वह पद मैं तुझे बतलाता हूँ। वह है 'ॐ'। यह ॐ अक्षय्य है, यही ब्रह्म है, यही अमृत है। जो इसका रहस्य जान लेता है वह जो जो कुछ चाहता है वह सब उसे मिल जाता है। यह मनुष्य में वर्तमान आत्मा जिसे हे नाचिकेत, तू जानना चाहता है न तो कभी जन्मती ही है और न मरती है। वह अनादि है और सदा वर्तमान है। यह पुराण पुरुष शरीर नष्ट होने पर भी नष्ट नहीं होता। अगर मारने वाला सोचे कि मैं मार सकता हूँ और मरने वाला सोचे कि मैं मारा जाता हूँ तो दोनों ही गलती खा रहे हैं क्योंकि आत्मा न किसी को मारती है और न मारी जा सकती है। वह अणु से भी छोटी है, वह बड़े से भी बड़ी है, वह सब की स्वामिनी है और प्रत्येक के हृदयरूपी गुहा में वह निहित है। जब पापों का क्षय हो जाता है तो उसी दयामय की दया से उसका परम सामर्थ्य उसे प्रकाशमान हो जाता है। (परमेश्वर प्राप्ति के हेतुओं में से उसकी दया एक हेतु है यह दिख जावेगा)। वह बैठा है फिर भी वह लम्बा सफर करता है और वह लेटा रहने पर भी सर्वत्र गतिमान है। जिनके हृदय शुद्ध हैं और बुद्धि सूक्ष्म है उनके सिवाय और किसे परमेश्वर के दर्शन का अधिकार है—उस परमेश्वर के दर्शन का जो विरोधाभास का विषय है? उसे शरीर नहीं है फिर भी वह शरीर में रहता है। वह स्पर्श से परे है फिर भी उसका स्पर्श होता सा मालूम होता है। वह सर्वत्र विद्यमान है। उसके इस स्वरूप को जानकर आत्मज्ञानी सब दुःखों से मुक्त हो जाते हैं। यह आत्म-दर्शन न तो वेदों के अभ्यास ही से होता है और न बहुश्रुत बनकर ही, तथा न बुद्धि ही से। जिसे यह आत्मा वरती है वही उसे पाता है

और उसे ही वह अपने संपूर्ण तेज में प्रकट होती है। जो निरन्तर दुष्कर्म करता रहता है, जिसका मन अशान्त रहता है, जो ध्यान नहीं कर सकता जिसका हृदय सदा अस्थिर और चंचल रहता है उसे यह आत्मबोध नहीं हो सकता और न आत्मदर्शन ही; यानी उस आत्मा का दर्शन जो हृदयरूपिणी गुहा में विद्यमान है। हे नाचिकेत, यह शरीर रथ है और उसमें इन्द्रियों के घोड़े जुते हुए हैं। मन यही उनकी लगाम है और विवेक ही उस रथ का सारथी है जिसमें कि आत्मा ही रथी (रथ में बैठने वाला स्वामी) है। जब यह रथी सारथी से संयुक्त होता है, विवेक से सम्बन्ध जोड़ता है और उसके द्वारा जब यह मनोमय बनता है, तथा जब यह मनोरूपी लगाम द्वारा इन्द्रियरूपी हयों में विलीन हो जाता है तब यह भोगी कहलाता है। तब वह दर्शन स्पर्शनादि क्रिया करने लगता है। तब ही वह कार्यकारी बन जाता है। जिसका मन उसके वश नहीं है और जो विवेकहीन है वही इन्द्रियों को अपने आधीन नहीं रख सकता जिस तरह नटखटी घोड़े सवार के आधीन नहीं रहते। लेकिन जो विवेकी है, जिसने अपने मन को स्वाधीन रखा है उसके वश में इन्द्रियाँ इस तरह रहती हैं जैसे कि अच्छे सवार के काबू में घोड़े। जो विवेकी है, जिसका मन सत्य दर्शन के पथ पर चलता है, जो सर्वदा शुद्ध है वही इस सत्य को पाता है, जिसे पाने के पश्चात् मनुष्य का पुनर्जन्म नहीं होता। हे नाचिकेत, यह बहुत दुस्साध्य है। मार्ग लम्बा है और पद पहुंचने को कठिन है, वह दुर्गम है। सूक्ष्ममति के आत्मज्ञानी ही यह पद पा सकते हैं और उसका अनुभव कर सकते हैं। तौभी तू निर्भय रह। जग जा, उठ खड़ा हो और बिना वर पाये विराम मत ले। क्योंकि कवि (आत्मज्ञानी) कहते हैं कि यह असि-

धारा ('क्षुरस्य धारा') व्रत है, यह पथ दुर्गम है। जो इन्द्रियों से अतीत है, उनके स्पर्शों से अतीत है, जो स्वरूपातीत है, भोगातीत है, जो अविकार्य अव्यक्त है, अचिन्त्य है और जो अनश्वर है उसे जानकर ही मनुष्य मृत्यु के मुख से बच जाता है।"

यहां हमने यह देखा कि हमारा कौनसा ध्येय होना चाहिए यही यमधर्मराज ने वर्णन किया है। पहिला ज्ञान जो हमें होता है वह यह है कि जन्म, मृत्यु, दुःख और इस दुनिया में मनुष्य को मिलने वाले अनेक झटके, वही मनुष्य पार कर सकता है जिसने सत्य जान लिया है। सत्य क्या है? वह जिस में कोई विकार नहीं उत्पन्न होता, अर्थात् मनुष्य में विद्यमान आत्मा, विश्व में विद्यमान आत्मा। पुनश्च यह भी कहा है कि उसे जानना दुष्कर है। जानने से अभिप्रेत सिर्फ़ बुद्धिगम्यता ही नहीं है तो तद्रूपता का अनुभव भी है। बार बार दुहरा कर हमने यहां पढ़ा है कि इस मुक्ति का स्वयं दर्शन करना चाहिए, उसका अनुभव लेना चाहिए। हम इन नेत्रों से उसे नहीं देख सकते क्योंकि वह दर्शन इन नेत्रों के लिये परम सूक्ष्म है। दिवाल या पुस्तकें देखना यह सिर्फ़ जड़ दर्शन ही का कार्य है। उस सत्य को जानने के लिए मनुष्य का दर्शन सूक्ष्म होना चाहिए। संपूर्ण ज्ञान का यही रहस्य है। बाद में यमदेव कहते हैं कि मनुष्य अत्यन्त पवित्र होना चाहिए। हमारी दर्शन शक्ति सूक्ष्म बनाने का यही मार्ग है। और इसके बाद वे हमें दूसरे मार्ग बतलाते हैं। वह स्वयं स्वतंत्र इन इन्द्रियों के बहुत ही परे है। ये इन्द्रियाँ अथवा दर्शन स्पर्शनादि के कारण सिर्फ़ बाह्य वस्तुओं को ही देख सकते हैं लेकिन जो स्वयं स्वतंत्र है, जो आत्मा है, वह अन्तर्मुख होने पर ही देखी जा सकती है। यहां कौन से गुण की आवश्यकता है उसका तुम्हें स्मरण रहना चाहिए।

'अर्थात् अपने नेत्रों को अन्तर्मुख कर यह आत्मा जानने की अभिलाषा। निसर्ग में जो ये अनेक सुंदर वस्तुएँ देखते हैं वह वास्तव में अच्छा दर्शन है लेकिन परमेश्वर के दर्शन का यह मार्ग नहीं है। अपने नेत्रों को अन्तर्मुख करना हमें सीखना चाहिए। बाह्य वस्तुओं को देखने की नेत्रों की लालसा रोकनी चाहिए। जब तुम भीड़ भाड़ वाली सड़क पर घूमते हो तुम्हारे साथ चलने वाले मनुष्य से बात करना तुम्हें कठिन होता है क्योंकि आती जाती हुई गाड़ियों की आवाज होती रहती है। वह मनुष्य तुम्हारी बात नहीं सुन सकता क्योंकि राह में बहुत गड़बड़ मची है। तुम्हारा मन बाहर जा रहा है और तुम उस मनुष्य की बात नहीं सुन सकते जो तुम्हारे पास है। इस तरह यह संसार इतना बड़ा कोलाहल मचा रहा है कि मन उधर खिंचा जाता है। फिर आत्मा को हम कैसे देख सकते हैं? यह मन की बहिर्मुखता ही बन्द करनी चाहिये। मन को अन्तर्मुख करो कहने से यही मतलब है। तब ही अन्तःसाक्षी प्रभु के चैतन्य का साक्षात्कार होगा।

यह आत्मा क्या है? यह हमें मालूम हो गया है,-वह बुद्धि से भी अतीत है। वही उपनिषद् हमें बतलाता है कि यह आत्मा शाश्वत है और सर्वत्र विद्यमान है। तुम, मैं और हम सब लोग सर्वत्र विद्यमान प्राण हैं। और यही आत्मा है जो अविकार्य है। अब यह सर्वत्र विद्यमान पदार्थ सिर्फ़ एक ही हो सकता है। ऐसे दो पदार्थ हो ही नहीं सकते जो एक ही समय सर्वत्र विद्यमान हों। यह संभव ही किस तरह है? असीम और अमर्याद ऐसे दो पदार्थ हो ही नहीं सकते। फलतः सचमुच आत्मा एक है और वह तुम हो, मैं हूँ, यह सम्पूर्ण विश्व जो बहुरूपी है। जिस तरह एक ही अग्नि अलग अलग स्थान पर भिन्न सी प्रतीत होती है उसी तरह एक स्वरूपी यह आत्मा भिन्न भिन्न

मूर्तियों में प्रकट होती है। जो यह आत्मा पूर्ण विकसित, शुद्ध, विश्व में विद्यमान और एक स्वरूपी है तो फिर प्रश्न है कि जब इसका इस अपवित्र शरीर से, इस दुष्ट या उस सुष्ट शरीर से सम्बन्ध आता है तो इसका क्या हो जाता है ? वह सम्पूर्ण किस तरह रह सकती है ? "वह अकेला सूर्य ही प्रत्येक आँख की ज्योत है, फिर भी उसे आँख के दोष लागू नहीं होते।" अगर किसी मनुष्य को 'पीलिया' रोग लगा हो तो उसे प्रत्येक वस्तु पीली नजर आवेगी। वस्तु-दर्शन का कारण सूर्य है तौभी उसकी आँख का पीलापन सूर्य पर कोई असर नहीं कर सकता। इसी तरह सर्वत्र विद्यमान यह आत्मा प्राणिमात्र का प्राण होने पर उन में विद्यमान दोषों से छुई नहीं जाती। "इस अशाश्वत जगत में उस अविकार्य को जो जानता है, इस अचेतन संसार में चिन्मय उस प्रभु को जो पहचानता है, जो एकमेवाद्वितीय स्वरूप को समझता है और उसका अपनी आत्मा में दर्शन करता है वही अनन्त सुख का भोगी होता है दूसरा नहीं, दूसरा कभी नहीं। वहां न सूर्य भासमान होता है न चंद्रमा और न अग्नि; न तारे ही चमकते हैं और न बिजली ही लपकती है। उसकी आभा से ही प्रत्येक वस्तु भासमान है। उसी के प्रकाश से प्रत्येक वस्तु प्रकाशित होती है। जब हृदय को दुःख देने वाली वासनाएँ नष्ट हो जाती हैं तब मनुष्य अमर हो जाता है, ब्रह्मपद प्राप्त कर लेता है। जब हृदय की ग्रंथियों का भेद होता है, जब सर्व संशयों का निरास होता है तब ही यह मर्त्य अमर बन जाता है। यही मार्ग है। हम सब का यह अध्ययन रक्षण करें। हम सब इस ज्ञान का एक साथ उपभोग लें। हम सब में यह समान वीर्य उत्पन्न करे। हम सब तेजस्वी और शक्तिशाली बनें। और हम किसी का भी द्वेष न करें। ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।"

दर्शनशास्त्र के तत्वज्ञान की दिशा तुम इस तरह की पावोगे। इस वेदान्तशास्त्र में ऐसी विचारसरणी का अवलम्ब किया है जो संसार के अन्य सब विषयों से एक दम निराली है। वेदों के पुराने विभाग में उसी तत्व का शोध लगाया गया है जो अन्यान्य ग्रंथों में। "इस संसार के पूर्व क्या था? जब इस विश्व में न सत् ही था और न असत्, जब तमतम ही से गूढ था, ढका हुआ था उस वक्त ये सब वस्तुएँ किसने बनाई?" अन्वेषण का आरंभ इस तरह हुआ और फिर लोग देवदूत और देवता और इस तरह की अनेक बातें बोलने लगे। और फिर हमें ज्ञात होता है कि अन्त में उन्होंने निराश होकर इस अन्वेषण का तिरस्कार कर दिया। उन दिनों यह विचार विमर्ष बाह्य वस्तुओं के विषय में था इसलिए वे लोग उसमें से कुछ न पा सके। लेकिन बाद बाद में उन्हें अपने अन्तर्जगत के अन्वेषण की ओर झुकना पड़ा, आत्मा ढूंढनी पड़ी जिस तरह कि वेदों में बतलाया है। वेदों का महत्व का सिद्धान्त यह एक है कि तारे, नीहारिका, आकाशगंगा और यह सम्पूर्ण दृश्य जगत, इसका विमर्ष कर मनुष्य को कुछ नहीं मिलता। इस परिशीलन से जन्म मृत्यु का प्रश्न कभी न सुलझेगा। अन्तःस्थित आश्चर्यमय इस यंत्र का उन्हें पृथक्करण करना पड़ा और इस पृथक्करण से उन्हें विश्व के रहस्य का पता चल गया न कि चाँद सूरज के पृथक्करण से। मनुष्य का विश्लेषण करना पड़ा। उसके शरीर का नहीं, उसकी आत्मा का। और इस आत्मा में उन्हें अपने प्रश्न का उत्तर मिला। वह मिला हुआ उत्तर कौनसा था? इस शरीर के परे, इस मन के परे वह स्वयं विद्यमान आत्मा है, यह उन्हें उत्तर मिला। न तो वह मरती है और न जन्म लेती है। वह स्वयं विद्यमान आत्मा घट घट व्यापी है क्योंकि उसे कोई आकार नहीं। जिसे

न आकार है न रूप, जो न काल से मर्यादित है और न स्थान से, वह एक विशिष्ट देश में कभी नहीं रह सकती। वह एक देश में कैसे रह सकती है? वह सर्वत्र विद्यमान है, घट घट व्यापी प्रत्येक वस्तु में उसकी समान सत्ता है।

मनुष्य की आत्मा यह क्या है? एक पक्ष के मत से वह है ईश्वर। और दूसरे के मत से अनेक आत्माएँ जो उस परमेश्वर से चिरन्तन विभक्त हैं चाहे सत्व के ख्याल से, चाहे रूप के ख्याल से, चाहे इतर गुणों के ख्याल से। यह है द्वैतवाद। यह है पुराना, बिलकुल पुराना असंस्कृत ख्याल। दूसरे पक्ष का यह उत्तर है कि जीव यह उस स्वर्गीय सत्ता का अंश है। जिस तरह यह शरीर स्वयं सिद्ध ऐसा एक छोटासा जगत है, उसके परे मन या विचारशक्ति और उस मन के परे है व्यक्ति-निष्ठ आत्मा उसी तरह यह सम्पूर्ण विश्व एक शरीर है। उसके पीछे समष्टिमय मन है और समष्टिमय मन के पीछे समष्टिमय आत्मा है। जिस तरह यह शरीर उस समष्टिमय विश्व का अंश है उसी तरह यह मन उस समष्टिमय मन का अंश है और यह आत्मा उस समष्टिमय आत्मा (परमात्मा) का। इसी का नाम है विशिष्टाद्वैत अर्थात् सगुण-एकब्रह्मवाद। अब हम यह तो जानते हैं कि 'विश्वचैतन्य' असीम है। फिर असीमता के अंश कैसे हो सकते हैं, उसके टुकड़े किस तरह किये जा सकते हैं, वह कैसे विभागा जा सकता है। मैं उस असीम की एक ज्योति हूँ यह कहना तो काव्यमय होगा लेकिन यह तो विचारशील मन को बिलकुल अजब मालूम होगा। असीम का विभाग करना इससे मतलब ही क्या? अगर यह संभव हो तो उसका असीमत्व ही निकल जावे। क्या वह कोई भौतिक वस्तु है जिसके टुकड़े किये जा सकते हैं? असीमता तो कभी विभक्त

नहीं हो सकती। तो फिर निष्कर्ष क्या है? जवाब यह है कि समष्टि-मय चैतन्य तुम ही हो तुम उसके अंश नहीं हो, वह सम्पूर्ण तुम हो। तो फिर यह वैचित्र्य क्या है? हम तो इतने करोड़ों जीव देखते हैं ये फिर क्या हैं? अगर सूर्य पानी के करोड़ों बबूलों पर चमके तो हर एक बबूले में एक आकृति, सूर्य की एक सम्पूर्ण आकृति दिखाई देगी। लेकिन ये सब प्रतिबिम्ब मात्र हैं, सच्चा सूर्य सिर्फ एक ही है। इस तरह यह जो हममें से प्रत्येक में आत्मा दिखाई देती है वह उस परमेश्वर का सिर्फ प्रतिबिम्ब है, इसके सिवाय कुछ नहीं। वह सच्चा जीव जो इन सब के पीछे है वह एक परमेश्वर है। हम सब का एकीकरण वहां हुआ है। आत्मा इस दृष्टि से वह सब कुछ एक है। वह तुम-में है और मुझमें है। वह सिर्फ एक है। वही आत्मा इन विभिन्न शरीरों में प्रतिबिम्बित हुई है। लेकिन यह हम नहीं जानते। हम सम-झते हैं कि हम एक दूसरे से और उस परमात्मा से विभिन्न हैं। और जब तक हम ऐसा सोचते हैं संसार में दुःख और क्लेश बना रहेगा। यह तो बड़ी भ्रान्ति है। अब दूसरा एक दुःख का उगम है डर। एक मनुष्य दूसरे पर आघात क्योंकर करता है? क्योंकि वह डरता है उसे काफी उपभोग न मिलेगा। मनुष्य को यह डर रहता है कि उसे काफी पैसा न मिलेगा, इसलिए वह दूसरे पर आघात करता है और उसे लूटता है। अगर यहां से वहां तक सब विद्यमान वस्तु एक है तो फिर डर कहां से आ सकता है। अगर मेरे सिर पर वज्रपात हो जावे तो वह वज्र मैं ही हूँ, क्योंकि विद्यमानत्व सिर्फ मेरा है। अगर प्लेग आवें तो मैं हूँ और अगर शेर आवे तौभी मैं हूँ। अगर मृत्यु आवे तौभी मैं हूँ। मृत्यु और जीवन दोनों ही मैं हूँ। जब हमें यह ख्याल होता है कि दुनिया दो वस्तुएँ हैं तो डर खड़ा हो जाता है। हमने यह हमेशा

उपदेश सुना है कि " एक दूसरे से प्यार करो। " क्योंकर ? यह सिद्धान्त सिखलाया गया था लेकिन इसका स्पष्टीकरण है यहां। मैंने हर किसी से क्यों प्यार करना चाहिए ? क्योंकि वह और मैं एक हूं। मैंने अपने भाई पर क्यों प्यार करना चाहिए ? क्योंकि भाई और मैं एक हूँ। यह एकत्व यह विश्वान्तर्गत दार्ढ्य विद्यमान है। दुनिया में रेंगता हुआ छोटे से छोटा कीड़ा और उन्नततम से उन्नततम जीव इनका शरीर यद्यपि विभिन्न होता है तौभी आत्मा होती है एक। अनेक मुखों से भक्षण करने वाले तुम हो अनेक हाथों से काम करने वाले भी तुम और अनेक आँखों से देखने वाले भी तुम। करोड़ों शरीर लेकर तुम ही भोग भोगते हो और करोड़ों शरीरों में तुम ही रोग सहते हो। जब यह विचार प्रवृत्त हो जाता है, जब हम उसे प्रत्यक्ष कृति में उतार लेते हैं, उसे देखते हैं और उसका ही अनुभव करते हैं तब दुःख का अन्त हो जाता है और उसके साथ भीति का भी। मैं कैसे मर सकता हूं ? मेरे परे तो कुछ नहीं है इस विचार से जब डर का अन्त होता है तब ही पूर्ण आनन्द और पूर्ण प्रेम की प्राप्ति होती है। वह विश्व-व्यापिनी दया, वह विश्वव्यापी प्रेम वह अविकारक विश्वमय आनन्द ये मनुष्य को उन्नत से उन्नत बनाते हैं। उसका कोई प्रत्याघात नहीं होता और उसे दुःख का सम्पर्क भी नहीं होता। लेकिन दुनिया का यह खान-पान सदा ही थोड़ा बहुत प्रत्याघात किया करता है। इस सब का हेतु है द्वैत भाव यानी मैं दुनिया से अलग हूँ, मैं परमेश्वर से अलग हूँ यह भावना। लेकिन ज्योंही ' सोऽहमस्मि ', ' विश्वस्य आत्मा-हमस्मि ', ' सच्चिदानन्दोऽस्मि ', ' स्वतंत्रोऽस्मि ' यह भावना उत्पन्न हो जाती है, त्योंही सच्चा प्रेम प्रकट हो जाता है, डर भाग जाता है और दुःख दूर हो जाता है।

मन का सामर्थ्य

(राज-योग)

(लॉस एन्जल्स में दिया हुआ भाषण, कॅलिफोर्निया ता. ८-१-१९००)

दुनिया के सब लोगों का सब युगों में दिव्यता में विश्वास चला आ रहा है। हम सबों ने अनेक चमत्कारों के बारे में सुना है और हममें से कुछ ने उनका स्वयं अनुभव भी किया है। इस विषय का प्रारम्भ में अपने खुद देखे हुए चमत्कारों को बतलाकर करूंगा। मैंने एक बार ऐसे मनुष्य के बारे में सुना जो तुम्हारे मन का प्रश्न तुम्हें बता देता था। और मुझे यह भी बतलाया गया कि वह भविष्य की बातें भी बताया करता है। मुझे उत्सुकता लगी और अपने कतिपय मित्रों के साथ मैं वहां पहुंचा। हममें से प्रत्येक ने अपने मन में पूछने का प्रश्न सोच रखा था ताकि गलती न हो। हमने वे प्रश्न कागज़ पर लिखकर जेब में रख लिये थे। ज्योंही हममें से एक वहां पहुंचा, उसने हमारे प्रश्न और उनके उत्तर कहना शुरू किया। उसने कागज़ पर कुछ लिखा। उसकी मोड़ गिराई पीठ पर मुझे दस्तखत करने के लिए कहा, " पढ़ो मत, जेब में रख लो। यह तुम्हारा सवाल था और यह तुम्हारा जवाब है। " इस तरह उसने हर एक से कहा। बाद उसने हम लोगों को हमारे भविष्य की कुछ बातें बतलाईं। फिर उसने कहा, " अब किसी भी भाषा का कोई शब्द या वाक्य तुम लोग अपने मन में सोचो। " मैंने संस्कृत का एक लम्बा वाक्य

सोचा, वह संस्कृत जानता भी न था। " अब अपने जेब का कागज़ निकालो " उसने कहा। वही संस्कृत का वाक्य उस कागज़ पर लिखा था और नीचे यह नोट लिखा था कि जो कुछ मैंने इस कागज़ पर लिखा है वही यह मनुष्य सोचेगा और यह बात उसने एक घंटा भर पहिले लिख छोड़ी थी। वही सच निकला। हममें से दूसरे को जिसके पास उसी तरह का कागज़ था कोई एक वाक्य सोचने को कहा गया। उसने अरेबिक भाषा का एक फ़िकरा सोचा। अरेबिक भाषा का जानना भी उसके लिए असम्भव था। वह फ़िकरा था ' कोरॉन ' का। लेकिन मेरा मित्र क्या देखता है कि वह भी कागज़ पर लिखा है। हममें से तीसरा था वैद्य। उसने किसी जर्मन भाषा की पुस्तक का वाक्य अपने मन में सोचा। वह वाक्य भी कागज़ पर लिखा था।

यह सोचकर कि कहीं पहले मैंने धोखा न खाया हो, कई दिनों बाद मैं फिर दूसरे मित्रों को साथ लेकर वहां गया। लेकिन इस बार भी उसने वही आश्चर्यजनक सफलता पाई।

एक बार जब मैं हैदराबाद (हिन्दुस्थान) में था मैंने एक ब्राम्हण के विषय में सुना। यह मनुष्य न जाने कहां से कई वस्तु पैदा कर सकता था। उस शहर का यह मनुष्य व्यापारी था और ऊँचे खान-दान का था। मैंने उसे अपने चमत्कार कर दिखलाने को कहा।

इस समय ऐसी बात हुई कि वह मनुष्य बीमार था। हिन्दुस्थानियों में यह विश्वास है कि अगर कोई पवित्र मनुष्य किसी के सिर पर हाथ रख देता है तो उसका बुखार उतर जाता है। यह ब्राम्हण मेरे पास आकर बोला, " महाराज, आप अपना हाथ मेरे सिर पर रख दें

जिससे मेरा बुखार भाग जावेगा।" मैंने कहा, 'ठीक है, लेकिन तुम हमें अपनी करामत दिखलाओ।' वह राज़ी हो गया। उसकी इच्छानुसार मैंने अपना हाथ उसके सिर पर रखा। और बाद में वह अपना वचन पूरा करने आगे बढ़ा। वह सिर्फ़ एक दुपट्टा पहने था। बाकी सब कपड़े हमने अपने पास ले लिये थे। अब मैंने उसे सिर्फ़ एक कम्बल ओढ़ने के लिए दिया। क्योंकि वे ठण्ड के दिन थे। और उसे एक कोने में बिठला दिया। पचीस नेत्रयुगुल उसकी ओर ताक रहे थे। उसने कहा अब आप लोगों को जो कुछ चाहिए वह कागज़ पर लिखिये। हम सब लोगों ने उन फलों के नाम लिखे जो उस प्रान्त में पैदा तक न होते थे। अंगूर के गुच्छे, सन्तरे इत्यादि। और हमने वे कागज़ उसके हाथ में दिये। और आश्चर्य देखो कि उसके कम्बल में से अंगूर की लड़ी, सन्तरे, इतनी तादाद में निकले कि अगर वजन किया जाता तो वह एक आदमी के वजन से दुगना होता। उसने हमें वे फल खाने के लिये कहा। हममें से कुछ लोगों ने यह सोचकर कि यह जादू टोना हो खाने से इन्कार किया। लेकिन उस ब्राह्मण ने ही खुद खाना शुरु किया। फिर हमने भी खाया। इसमें कोई गड़बड़ न थी।

अन्त में उसने गुलाब के ढेर निकाले। हर एक फूल पूरा खिला था। पखड़ियों पर हिम-बिन्दु थे। कोई भी फूल न तो टूटा ही था और न दबकर खराब ही हुआ था। और ऐसे ढेर के ढेर उसने निकाले। जब मैंने पूछा कि यह कैसे? तो उसने कहा, "यह सिर्फ़ हाथ का खेल है।"

यह चाहे जो कुछ हो लेकिन 'सिर्फ़ 'हाथ का खेल' होना असम्भव है। इस बड़ी तादाद में वह चीजें कहां से पा सकता था?

मैंने इसी तरह की अनेक बातें देखी। हिन्दुस्थान में घूमते समय तुम्हें ऐसी सैकड़ों बातें दिखेंगी। यह चमत्कार सब देश में हुआ करते हैं। इस देश में भी इस तरह के आश्चर्यकारक काम देखोगे। हां, यह सच है कि इसमें अधिकांश धोखेबाजी होती है लेकिन जहां तुम धोखेबाजी देखते हो वहां तुम्हें यह भी कबूल करना पड़ता है कि यह किसी की नकल है। कहीं न कहीं असल होनी चाहिए जिसकी यह नकल की जा रही है। अविद्यमान की कोई नकल नहीं कर सकता। किसी विद्यमान वस्तु की ही नकल की जा सकती है।

प्राचीन समय में हजारों वर्ष पूर्व ऐसी बातें आज की अपेक्षा अधिक प्रमाण में हुआ करती थीं। मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि जब लोग देश में घने बसने लगते हैं तो उनके आत्मिक बल का न्हास होने लगता है। जो देश विस्तृत है और जहां लोग विरल बसे होते हैं वहां शायद आत्मिक बल की वृद्धि अधिक होती है। अपनी विश्लेषणात्मक बुद्धि होने के कारण हिंदुओं ने इन विषयों को उठाकर उनके सम्बन्ध में अन्वेषण किया और वे कुछ मननीय सिद्धान्त निकाल सके, यानी उन्होंने इन बातों का एक शास्त्र ही बना डाला। उन्होंने यह अनुभव किया कि ये बातें यद्यपि असाधारण हैं तथापि अनैसर्गिक नहीं हैं। निसर्गातीत ऐसी कोई भी वस्तु नहीं है। ये बातें भी वैसी ही नियमबद्ध हैं जैसी भौतिक जगत की बातें। मनुष्य इन सामर्थ्यों को साथ लेकर जन्म लेता है। सिर्फ निसर्ग की लहर के कारण नहीं। इन शक्तियों का शास्त्रशुद्ध अध्ययन किया जा सकता है, प्रयोग किया जा सकता है और अपने में ये शक्तियाँ उत्पन्न की जा सकती हैं। इस शास्त्र को वे लोग 'राज-योग' शास्त्र कहते हैं। उस देश में ऐसे हजारों मनुष्य हैं जो

इस शास्त्र का अध्ययन करते हैं और वह सम्पूर्ण राष्ट्र ही इस अध्ययन को अपनी दैनिक उपासना का अंग बनाये हुआ है।

ये लोग इस सिद्धान्त को पहुंचे हैं कि ये सारे सामर्थ्य मनुष्य के मन में अधिष्ठित हैं। मनुष्य का मन यह प्राकृतिक मन का अंश मात्र है। प्रत्येक मन दूसरे से संलग्न है और प्रत्येक मन, वह चाहे जहां अधिष्ठित हो, सम्पूर्ण विश्व से प्रत्यक्ष व्यवहार कर रहा है।

क्या तुम लोगों ने **समसंवेदन** (Thought-transference) का चमत्कार देखा है? यहां एक मनुष्य कुछ विचार करता है और वह विचार अन्यत्र विद्यमान मनुष्य में प्रकट हो जाता है। एक मनुष्य अपने विचार दूसरे मनुष्य के पास भेजना चाहता है, इस दूसरे मनुष्य को यह मालूम हो जाता है कि इस तरह का सन्देश उस के पास आ रहा है। वह उस सन्देश को ठीक उसी रूप में सुन लेता है जिस रूप में कि वह भेजा गया था। पूर्वाभ्यास से ही यह बात सिद्ध होती है, न कि अचानक। दूरी के कारण कुछ फर्क नहीं पड़ता। वह सन्देश उस दूसरे मनुष्य तक पहुंच जाता है। और वह दूसरा मनुष्य उसे समझ लेता है। अगर तुम्हारा मन एक स्वतंत्र वस्तु होती जो वहां विद्यमान है, और मेरा मन दूसरी स्वतंत्र वस्तु होती जो यहां विद्यमान है, और इन दोनों मनों में अगर कोई प्रत्यक्ष व्यवहार न होता, तो मेरे विचार तुम्हारे पास क्योंकर पहुंच पाते? सर्व साधारण व्यवहार में मनुष्य को प्रथम अपने विचारों को आकाशतत्व की लहरों में परिणित करना पड़ता है। ये लहरें फिर मस्तिष्क में पहुंचती हैं। वहां फिर से इन लहरों का विचार में रूपान्तर होता है, तब मेरा विचार तुम्हारे पास पहुंचता है। मेरा विचार सीधा तुम्हारे

पास नहीं पहुंचता। यहां विचार-पृथक्करण होता है और वहां फिर विचार-समीकरण करना पड़ता है। इस तरह का चक्राकार कार्यक्रम चलता है। लेकिन समसंवेदन में इस तरह की क्रिया की कोई आवश्यकता नहीं होती। समसंवेदन (Telepathy) यह प्रत्यक्ष चलता है।

इससे स्पष्ट है कि मन यह अविच्छिन्न वस्तु है जैसा कि योगी कहते हैं। मन सर्व देशीय है। तुम्हारा मन, मेरा मन, ये सब छोटे छोटे मन उस सर्व देशीय मन के अंश मात्र हैं, समुद्र पर उठनेवाली लहरें हैं, और उस अखण्ड सम्बन्ध के कारण ही हम परस्पर में अपने विचारों का व्यवहार प्रत्यक्ष रूप से कर सकते हैं।

देखो, अपने आसपास दुनिया में क्या चल रहा है। अपना प्रभाव चलाना यही दुनिया है। हमारी शक्ति का कुछ अंश तो शरीर धारणा के उपयोग मे आता है लेकिन इसके अलावा हमारी शक्तियों का प्रत्येक परमाणु अहोरात्र दूसरों पर अपना प्रभाव चलाता हुआ दिखलाई देगा। हमारे शरीर, हमारे गुण, हमारी आत्मिक शक्ति ये सब लगातार दूसरों पर प्रभाव चलाते आ रहे हैं। इसी तरह प्रतिपक्ष में दूसरों का हम पर प्रभाव पड़ता चला आ रहा है। हमारे आसपास यही चल रहा है। एक प्रत्यक्ष उदाहरण लो। एक मनुष्य तुम्हारे पास आता है, वह खूब पढ़ा लिखा है, उसकी भाषा भी सुन्दर है, वह तुमसे एक घन्टा बात करता है फिर भी वह अपना असर नहीं छोड़ जाता। दूसरा मनुष्य आता है। वह इने गिने शब्द बोलता है। शायद वे भी व्याकरण शुद्ध और व्यवस्थित नहीं होते फिर भी वह खूब असर कर जाता है। यह तो तुम बहुतों ने अनुभव किया है। इससे स्पष्ट है कि मनुष्य पर जो प्रभाव पड़ता है वह सिर्फ

शब्दों द्वारा ही नहीं। शब्द ही नहीं वरन् विचार भी प्रभाव का एक तृतीयांश ही उत्पन्न करते होंगे बाकी का दो तृतीयांश प्रभाव होता है। मनुष्य जिसे तुम मानवीय आकर्षण कहते हो वह प्रकट होकर तुम पर अपना असर चलाता है।

अपने घरों में अधिकारी पुरुष होता है। कोई यशस्वी होता है और कोई नहीं। ऐसा क्यों? जब हमें अपयश आता है तो दूसरों को कोसते हैं। ज्योंही मुझे अपयश आता है तो मैं कह उठता हूँ कि अमुक अमुक मेरे अपयश के कारण हैं। अपयश आने पर मनुष्य अपना कसूर और अपने दोष कबूल नहीं करना चाहता। प्रत्येक मनुष्य यह दिखलाने की कोशिश करता है कि वह निरपराधी है और उसका दोष वह किसी मनुष्य पर, किसी वस्तु पर अन्यथा दुर्दैव पर मढ़ना चाहता है। जब घर का अधिकारी पुरुष यश न मिला सके तो उसने सोचना चाहिए कि कुछ पुरुष घर क्योंकर अच्छी तरह चला सकते हैं और दूसरे कुछ क्योंकर नहीं। तब तुम्हें पता चलेगा कि मनुष्य के कारण— उसके अस्तित्व के कारण, उसके व्यक्तित्व के कारण यह फर्क पड़ता है।

बड़े बड़े नेताओं की बात ली जावे तो हमें सदा यही दिखलाई देगा कि उनका व्यक्तित्व गणनीय था। अब बड़े बड़े लेखक और दार्शनिकों की बात लो। सच पूछो तो ऐसे स्वयं समधीत विचार कितने हैं? गतकालीन नेताओं ने जो कुछ लिख छोड़ा है उसका विचार करो; उनकी लिखी हुई पुस्तकों की एक एक कर छानबीन करो तो यही दिखेगा कि ऐसे विचार जिन्हें हम सच्चे, नये और स्वतंत्र विचार कह सकते हैं सिर्फ मुट्ठी भर हैं। उन लोगों ने जो विचार, हमारे लिये छोड़े हैं उनको उन्हीं की पुस्तकों में से पढ़ो तो वे हम

कोई बहुत बड़े नहीं प्रतीत होते और फिर भी उनके जमाने में वे बहुत बड़े हो गये हैं। ऐसा क्योंकर होता है? सिर्फ़ उनके सोचे हुए विचारों के कारण ही नहीं, और न उनकी लिखी हुई पुस्तकों के कारण ही, ऐसा भी नहीं कि उनके दिये हुए भाषणों के कारण वे बहुत बड़े प्रतीत होते थे बल्कि किसी एक दूसरी बात के कारण जो अब उनमें से निकल गई है, वह है उनका व्यक्तित्व। जैसा कि मैं पहिले ही कह चुका हूँ व्यक्तित्व है दो तृतीयांश और बाकी एक तृतीयांश होती है मनुष्य की बुद्धि और उसके कहे हुए शब्द। सच्चा मनुष्यत्व या उसका व्यक्तित्व ही वह वस्तु है जो हममें प्रवाहित रहती है। हमारे कर्म ये सिर्फ़ परिणाम मात्र हैं। मनुष्य के व्यक्तित्व के साथ कर्म स्वभावतः प्रकट हो जाते हैं—कारणभाव कार्यभाव से अवश्य ही अनुगत होगा।

संपूर्ण शिक्षा का, संपूर्ण अध्ययन का ध्येय यह मानुषिक उत्थान ही होना चाहिए। लेकिन यह न कर हम उसके बहिरंग पर ही पानी चढ़ाने का सदा प्रयत्न किया करते हैं। जहां अन्तरंग का अभाव है वहां सिर्फ़ बहिरंग पर पानी चढ़ाने का प्रयत्न करने में क्या फ़ायदा? सारी शिक्षा का ध्येय है मनुष्य का विकास। वह मनुष्य भाव जो अपना प्रभाव सब पर डालता है, जो अपने संगियों पर जादू सा कर देता है, शक्ति का डायनेमो (शक्त्युत्पादक यंत्र) है और जब यह यंत्र तैयार हो जाता है तो वह जो कुछ चाहे निर्माण कर सकता है। किसी वस्तु पर जब यह व्यक्तित्व अधिष्ठित हो जाता है तो वह चाहे जो कार्य करने में समर्थ हो जाती है।

यद्यपि हम देखते हैं कि यह बात सच है फिर भी कोई भौतिक सिद्धान्त जो हमें ज्ञात है यह नहीं समझा सकता कि ऐसा किस तरह

हो सकता है। रसायनिक या पदार्थ-वैज्ञानिक ज्ञान इसका विशदीकरण क्योंकर कर सकता है? कितनी ओषजन, कितनी उज्जनवायु (hydrogen), कितना कोयला (carbon) या कितने परमाणु और उनकी कितनी विभिन्न अवस्थाएँ, उनमें विद्यमान कितने जीवतत्व इत्यादि इस गूढ़ व्यक्तित्व का स्पष्टीकरण कर सकते हैं? फिर भी हम यह देखते हैं कि यही वस्तुस्थिति है इतना ही नहीं तो सच्चा मनुष्य भाव भी यही है और यह मनुष्य भाव ही है जो ज़िन्दा रहता है, हलचल करता है और काम करता है। वह मनुष्य भाव ही है जो प्रभाव डालता है, अपने संगियों को कार्य में प्रवृत्त करता है और निकल जाता है। उसकी बुद्धि, उसकी पुस्तक और उसके किये हुए काम ये सिर्फ़ चिन्ह मात्र हैं जो पीछे रह जाते हैं। इस बात का विचार करो। उन बड़े दार्शनिकों की तुलना करो। दार्शनिकों ने बड़ी आश्चर्यकारक पुस्तकें लिख डाली हैं फिर भी कुछ ही अंश में किसी के अन्तरंग पर उन्होंने प्रभाव जमाया होगा। प्रतिपक्ष में धर्मप्रचारकों को देखो, उन्होंने अपने काल में सारे देश को हिला दिया था। व्यक्तित्व ही था वह जिसने यह फर्क पैदा किया। दार्शनिकों का वह व्यक्तित्व जो असर पैदा करता है किंचिन्मात्र होता है और धर्म संस्थापकों का वही व्यक्तित्व बहुत बड़ा होता है। पूर्व वर्ग की व्यक्ति बुद्धि पर असर करती है और चरम वर्ग की जीवन पर। पहिला वर्ग सिर्फ़ रसायनिक क्रिया ही करता है, कुछ रसायनिक पदार्थों को जुड़ाता है जो अनुकूल परिस्थिति पा क्रमशः संयुक्त हो जावें और प्रकाश की ज्योति प्रकट कर दें या अयशस्वि हो जावें। दूसरा वर्ग जलती हुई बत्ती के समान है जो दूसरी बत्तियाँ जल्दी जल्दी जलाता चला जाता है।

योग शास्त्र यह हक़ साबित करता है कि उसने उन नियमों

को ढूंढ निकाला है जिसके द्वारा व्यक्तित्व का विकास किया जा सकता है। इन नियमों की ओर ठीक ठीक ध्यान देने से और उनका सम्यक् अध्ययन करने से मनुष्य व्यक्तित्व का विकास कर सकता है और उसे बलिष्ट बना सकता है। अनेक व्यवहार्य बातों मे यह एक महत्व की बात है और शिक्षा का यही गूढ़ रहस्य है। इसका व्यवहार सर्वदेशीय होता है। चाहे वह गृहस्थ हो, चाहे गरीब, अमीर, व्यापारी या आत्मज्ञानी सबों के जीवन में व्यक्तित्व को बलिष्ट बनाना यह एक महत्व की बात है। ऐसे अनेक सूक्ष्म नियम हैं जो हम जानते है कि, इन भौतिक नियमों से अतीत हैं। मतलब यह कि भौतिक जगत, मानसिक जगत, या आध्यात्मिक जगत इस तरह की कोई स्वतंत्र दुनिया नहीं है। जो कुछ है सब एक तत्व है। या हम ऐसा कहेंगे कि यह सब एक ऐसा जगत है जो कि यहां पर मोटा है और जैसा जैसा यह ऊँचा चढ़ता है वैसा वैसा वह सूक्ष्मतर होता जाता है, सूक्ष्मतम को आत्मा कहते हैं और स्थूलतम को शरीर। और जो कुछ छोटे प्रमाण में इस शरीर में है वही बड़े प्रमाण में उस विश्व में है। यह हमारा विश्व ठीक इसी प्रकार का है। बहिरंग में स्थूल घनत्व है और जैसा जैसा यह ऊँचा चढ़ता है सूक्ष्मतर होता जाता है और अन्त में परमेश्वर रूप बन जाता है।

हम यह भी जानते हैं कि असीम शक्ति सूक्ष्म में है, स्थूल में नहीं। एक मनुष्य भारी वजन उठाता है। उसके दण्ड फूल उठते हैं और संपूर्ण शरीर पर प्रयास के चिन्ह दिखने लगते हैं। हम समझते हैं कि उसकी भुजाएँ बहुत मज़बूत हैं। लेकिन असल में सुतली से पतले ज्ञान-तंतु हैं जो भुजाओं को शक्ति देते हैं। जिस क्षण इन तंतुओं में से एक का भी सम्बन्ध टूट जाता है उसी क्षण हाथ बेकाम

हो जाते हैं। ये छोटे छोटे ज्ञान-तन्तु सूक्ष्मतर ऐसी कोई वस्तु से अपनी शक्ति ग्रहण करते हैं। और वह सूक्ष्मतर वस्तु अपने तईं अपने से भी अधिक सूक्ष्म ऐसे विचारों से शक्ति ग्रहण करती हैं। इसी तरह यह कार्यक्रम चलता रहता है। इसलिए वह सूक्ष्मत्व ही है जो शक्ति का अधिष्ठान है। स्थूल में होने वाली हलचल हम अवश्य देख सकते हैं लेकिन सूक्ष्म में होनेवाली हलचल हम नहीं देख सकते। जब स्थूल वस्तुएँ हरकत करती हैं तो हमें बोध हो सकता है और स्वाभाविक ही हलचल का सम्बन्ध हम स्थूल से जोड़ देते हैं, लेकिन वास्तव में सारी शक्ति सूक्ष्म में ही है। सूक्ष्म में होने वाली हलचल हम देख नहीं सकते, शायद इसका कारण यह है कि वह हलचल इतनी तीव्र होती है कि हम उसका अनुभव नहीं कर सकते। लेकिन अगर कोई शास्त्र या अगर कोई शोध इन सूक्ष्म शक्तियों के ग्रहण करने में मदद दे तो यह व्यक्त विश्व ही जो इन शक्तियों का परिणाम है हमारे आधीन हो जावेगा। पानी का एक बुलबुला झील की तली से निकलता है, वह ऊपर आ रहा है, लेकिन हम उसे नहीं देख सकते जब तक कि वह सतह पर आकर फूट नहीं जाता। इसी तरह विचार अधिक उत्क्रान्त हो जाने पर या कार्य में परिणत हो जाने पर ही देखे जा सकते हैं। सदा हम यही कहा करते हैं कि हमारे कर्मों पर, हमारे विचारों पर हमारी हुकूमत नहीं चलती। लेकिन यह कैसे सम्भव हो सकता है? हम विचारों को मूल में ही अगर आधीन कर सकें तो इन सूक्ष्म हलचलों पर हमारी हुकूमत चल सकेगी। विचार कार्य में परिणत होने के पहले जब हम आधीन कर लेंगे तब ही सब पर हमारी हुकूमत चल सकेगी। अब अगर ऐसा कोई तरीका हो जिसके द्वारा हम कारणभावों का अर्थात् इन सूक्ष्म शक्तियों का पृथक्करण,

संशोधन, उद्बोधन और अन्त में ग्रहण कर सकें तो तब ही हमारे स्वत्व पर हमारा अधिकार चल सकेगा। और जिस मनुष्य का मन उसके आधीन होगा निश्चय से वह दूसरों के मनों को अपने आधीन कर सकेगा। यही कारण है कि सदाचार और शुद्ध व्यवहार धर्मक्षेत्र के विषय हैं। शुचिर्भूत, सदाचारी मनुष्य स्वत्व को अपने अधिकार में ला सकता है। हम सब के मन, उस ईश्वरीय मन के अंश मात्र हैं। जिसे एक ढेले का ज्ञान हो गया उसने दुनिया की सारी मिट्टी जान ली। जो अपने मन को जानता है और स्वाधीन रख सकता है वह दूसरे के मनों का रहस्य पहचानता है और उन पर अपनी हुकूमत चला सकता है।

अब हम अपने भौतिक दुःखों का अधिकांश दूर कर सकते हैं अगर हम इन सूक्ष्म कारणों पर अपना अधिकार चला सकें। हम अपनी चिन्ताओं को दूर कर सकते हैं अगर यह सूक्ष्म हलचल हमारे आधीन हो। अनेक अपयश टाले जा सकते हैं अगर इन सूक्ष्म शक्तियों को अपने आधीन कर लें। यहां तक उपयोगितावाद के बारे में कहा लेकिन इसके परे और भी कुछ उच्चतर है।

अब मैं तुम्हें एक प्रमेय बतलाता हूँ। उसका विवाद मैं उपस्थित न करूंगा। सिर्फ सिद्धान्त ही मैं तुम्हारे सामने रक्खूंगा। प्रत्येक मनुष्य अपने बाल्य काल में ही उन उन अवस्थाओं को पार कर लेता है जिनमें से उसका समाज गुजरा है। समाज को हजारों वर्ष लग जाते हैं और बालक कुछ वर्षों में ही उनमें से हो गुज़रता है। बालक प्रथम जंगली मनुष्य की अवस्था में होता है और तितली को अपने पैरों तले कुचल डालता है। आरम्भ में बालक अपनी जाति के जंगली पूर्वजों का सा होता है। जैसे जैसे वह बढ़ता है अपनी जाति की

विभिन्न अवस्थाओं को पार करता जाता है जब तक कि वह अपनी जाति की उत्क्रान्ति तक पहुंच नहीं जाता। फर्क यही कि वह तेजी से और जल्दी जल्दी पार कर लेता है। अब सम्पूर्ण मानव समाज को जाति मानो या सम्पूर्ण प्राणि-जगत और मनुष्य तथा अनुन्नत प्राणियों की एक जाति मानो। एक ऐसा अन्त है कि जिसकी तरफ यह सम्पूर्ण विश्व बढ़ रहा है। उस अन्त को पूर्ण-विकास यह नाम दें। कुछ मनुष्य या स्त्रियां ऐसी पैदा हो जाती हैं जो सम्पूर्ण मानव समाज के विकास की पूर्व-कल्पना कर सकती हैं। सम्पूर्ण मानव समाज जब तक उस पूर्ण-विकास को न पहुंचे तब तक राह देखते बैठना और पुनः पुनः जन्म लेना इसकी बनिस्बत वह कहता है कि जीवन के कुछ ही वर्षों में चलो इन सब अवस्थाओं में से दौड़ चलें। और हम जानते हैं कि इन अवस्थाओं में से हम तेजी से दौड़ जा सकते हैं अगर हम सिर्फ आत्मवंचना न करें। संस्कृतिहीन मनुष्यों को अगर हम एक द्वीप पर छोड़ दें और उन्हें पर्याप्त खाने, ओढ़ने को तथा रहने को मिले तो धीरे धीरे उत्क्रान्ति की एक एक सीढ़ी वे चढ़ते जावेंगे। हम यह भी जानते हैं कि विशेष साधनों द्वारा यह विकास द्रुततर सिद्ध किया जा सकता है। क्या हम वृक्षों की बाढ़ में मदद नहीं करते? अगर निसर्ग पर छोड़ दिये जाते तोभी वे बढ़ते। फर्क यही कि उन्हें अधिक काल लगता अन्यथा लगने वाले समय से थोड़े समय में ही उनकी बाढ़ होने के लिए हम मदद पहुंचाते हैं। कृत्रिम साधनों द्वारा उनकी बाढ़ द्रुततर करना यही हम निरन्तर करते आये हैं। तो फिर हम मनुष्य का विकास शीघ्रतर क्यों नहीं कर सकते? जातिरूप में हम वह कर सकते हैं। परदेशों में प्रचारक क्योंकर भेजे जाते हैं? क्योंकि इन मार्गों द्वारा

जाति को हम शीघ्रतर उन्नत कर सकते हैं। तो अब क्या हम मनुष्य का विकास शीघ्रतर नहीं कर सकते? अवश्य कर सकते हैं। तो क्या इस शीघ्र विकास की कोई मर्यादा बाँधी दी गई है? यह हम नहीं कह सकते कि एक ही आयुष्य में मनुष्य कितनी उन्नति कर सकता है। ऐसा कहने के लिए तुम्हें कोई आधार नहीं कि मनुष्य सिर्फ इतनी ही उन्नति कर सकता है, अधिक नहीं। परिस्थिति से उसका विकास आश्चर्यजनक शीघ्रता से हो सकता है। तो क्या फिर मनुष्य पूर्ण विकसित होने के पूर्व ही प्रतिबद्ध किया जा सकता है? इसका क्या परिणाम होगा? एक पूर्ण विकसित मनुष्य जो इस जाति के साथ शायद करोड़ों वर्ष बाद जन्म में आवे आज ही जन्म ले सकता है। और यही बात योगी कहते हैं कि सब बड़े अवतारी तथा धर्मोपदेशक ऐसे ही पुरुष होते हैं। दुनिया के इतिहास के सब कालों में इस तरह के मनुष्य जन्म लेते हो आये हैं। अभी कुछ ही दिन पूर्व एक ऐसे मनुष्य ने जन्म लिया था कि जिसने मानव समाज के पूर्ण जीवन का अनुभव अपने इसी आयुष्य में किया था और जो अन्त तक पहुंच गया था। लेकिन यह शीघ्रगामी विकास भी कुछ नियमों के अनुसार होना चाहिए। अब ऐसी कल्पना करो कि इस नियमों का हम संशोधन कर सकते हैं, उन्हें समझ सकते हैं, और उन गुप्त रहस्यों को अपनी आवश्यकताएँ पूरी करने के लिए उपयोग में ला सकते हैं, तो यह स्वयं ही सिद्ध हो जाता है कि हमारा विकास होगा। हम अपनी शीघ्रतर बाढ़ करें, शीघ्रतर अपना विकास करें तो इस आयुष्य में भी हम पूर्ण विकसित हो सकते हैं। हमारी आयुष्य का उन्नततर अंश यही है और मनोविज्ञान शास्त्र तथा मन की शक्तियों का अभ्यास

इस पूर्ण विकास को ही अपना ध्येय बनाता है। दूसरे मनुष्यों को पैसा देकर और भौतिक वस्तुएँ देकर सुगमता से जिन्दगी बसर करना सिखलाना यह दैनंदिन जीवन का सिर्फ़ ब्यौरा है।

मनुष्य को पूर्ण विकसित बनाना यही इस शास्त्र का उपयोग है। युगानुयुग प्रतीक्षा करने की आवश्यकता नहीं। जैसे कि भौतिक जग में एक काठ का टुकड़ा उसके हाथ का खिलौना बन समुद्र की लहरों द्वारा फेंका जाता है, ऐसा यहां वहां फेंका जाना आवश्यक नहीं। शास्त्र यह चाहता है कि तुम मज़बूत बनो, उन्नति-कार्य अपने हाथ में लो, निसर्ग के भरोसे पर मत छोड़ो और इस छोटे से जीवन के उस पार हो जावो। यही वह महनीय विचार है।

ज्ञान में, शक्ति में, सुख में मनुष्य की उन्नति होती जा रही है। जाति रूप से हम लगातार उन्नति करते जा रहे हैं। हम देखते हैं कि यह सच है, बिलकुल सच है। क्या यह प्रत्येक व्यक्ति के विषय में भी सत्य है? हाँ कुछ अंश तक सच है। फिर दूसरा प्रश्न उठता है कि इसकी सीमा रेखा कौनसी है? मैं तो सिर्फ़ कुछ ही गज दूरी पर देख सकता हूँ लेकिन मैंने ऐसा मनुष्य देखा है जो आँख बन्द कर लेता है और फिर भी बता देता है कि दूसरे कमरे में क्या चल रहा है। अगर तुम कहो कि हम नहीं विश्वास करते तो शायद तीन हप्ते के अन्दर वह मनुष्य तुम्हें वैसा विश्वास करा देगा। यह किसी भी मनुष्य को सिखलाया जा सकता है। कुछ मनुष्य तो सिर्फ़ पांच मिनिट के अन्दर ही दूसरे के मन में क्या चल रहा है यह जानना सीख ले सकते हैं। ये बातें प्रत्यक्ष कर दिखलाई जा सकती हैं।

अब अगर यह बात सच है तो सीमारेखा कहां पर खींची जा सकती है? अगर मनुष्य कोने में बैठे हुए दूसरे मनुष्य के मन में क्या

चल रहा है यह जान सकता है तो वह दूसरे कमरे में बैठा रहने पर क्यों न जान सकेगा और अगर वह कहीं पर भी बैठा हो तो क्योंकर न जान सकेगा ? हम नहीं कह सकते ऐसा क्यों नहीं। हम यह कहने की हिम्मत नहीं कर सकते कि यह असम्भव है। हम सिर्फ़ यही कह सकते हैं कि हम नहीं जानते यह कैसे संभव है। ऐसी बातें होना असम्भव है ऐसा कहने का भौतिक शास्त्रज्ञों को कोई अधिकार नहीं। शास्त्र का काम सिर्फ़ यही है कि वस्तुस्थिति का निरीक्षण करे, प्रमेयों को इकट्ठा करे, उन पर सिद्धान्त बाँधे, अनुस्यूत नियमों को निकाले और सत्य का विधान करे। लेकिन अगर हम वस्तुस्थिति का ही इन्कार करने लगे तो शास्त्र ही कैसे बन सकता है ?

मनुष्य कितनी शक्ति संपादन कर सकता है, इसका कोई अन्त नहीं। हिंदुस्थानी मनुष्य के मन की यही खासियत है कि जब किसी एक वस्तु में उसे रुचि उत्पन्न हो जाती है तो वह उसमें ही लीन हो जाता है और दूसरी बातों को भूल जाता है। तुम जानते हो कि कितने शास्त्रों का उद्गम हिन्दुस्थान में हुआ है। गणित शास्त्र का आरम्भ वहां ही हुआ। आज भी आप लोग संस्कृत भाषा पद्धति के अनुसार एक, दो, तीन इत्यादि शून्य तक गिनते हो। और तुम्हें यह भी मालूम है कि बीजगणित का उदय हिन्दुस्थान में ही हुआ। उसी तरह न्यूटन का जन्म होने के हजारों वर्ष पूर्व हिन्दुस्थानियों को गुरुत्वाकर्षण का सिद्धान्त अवगत था।

इस खासियत की ओर जरा ध्यान दो। भारतीय इतिहास के एक समय में भारतवासियों की रुचि मनुष्य तथा उसका मन इसी विषय में संलग्न थी। और यह विषय ही अत्यन्त आकर्षक था। क्योंकि कोई भी वस्तु प्राप्त करने का यह सुलभतम तरीका है ऐसा ही

उन्हें दृग्गोचर हुआ था। इस समय भारतवासियों का ऐसा दृढ़ निश्चय हो गया था कि मन कोई भी कार्य नियमवद्ध हो, कर सकता है। और इसीलिए मानसिक शक्तियाँ यही उनके अध्ययन का विषय बन बैठीं। जादू, मंत्र, तंत्र, उनके सामर्थ्य इत्यादि कोई बात असाधारण न थी। यह भी इतनी सुगमता से सिखलाया जाता था जितनी कि उसके पूर्व भौतिकशास्त्र। इन बातों का लोगों में इतना विश्वास बैठ गया कि भौतिक शास्त्र करीब करीब मरे से हो गये। यही एक बात थी जिसने उनका लक्ष्य खींच रखा था। योगियों के अनेक वर्ग अनेक प्रकार के प्रयोग करने लगे। कुछ लोगों ने प्रकाश के प्रयोग किये और यह जानना चाहा कि विभिन्न वर्णों की किरणों का शरीर पर कौनसा प्रभाव पड़ता है। वे विशिष्ट रंग का कपड़ा पहनते थे, विशिष्ट रंग में वास करते थे और विशिष्ट रंग के ही अन्न खाते थे। इस तरह सब प्रकार के प्रयोग किये जाने लगे। दूसरों ने अपने कान बन्द कर या खुले रखकर प्रयोग करना आरम्भ किया और अन्य प्रयोजकों ने गंध के क्षेत्र में।

सबों का विचार एक ही था—किसी वस्तु का सूक्ष्मांग ग्रहण किस तरह किया जा सकता है? और उनमें से कुछ लोगों ने सचमुच ही आश्चर्यजनक सामर्थ्य प्रकट किया। बहुतों ने आकाश में विचरने और उड़ने का प्रयत्न किया। एक बड़े पाश्चात्य विद्वान की बतलाई हुई एक कथा मैं कहूंगा। सिलोन के गव्हर्नर ने जिसने यह कथा प्रत्यक्ष देखी थी उससे कही थी। एक लड़की उपस्थित की गई और वह पैरों पर पैर रख कर स्टूल पर बैठ गई। स्टूल 'क्रास' के आकार की लकड़ियों से बनाया था। कुछ देर उसके उस स्थिति में बैठने के पश्चात् वह मनुष्य धीरे धीरे एक एक कर लकड़ियां हटाने लगा और वह

लड़की हवा में अधर ही लटकती रह गई। गव्हर्नर ने सोचा कि इस में कोई चालाकी है, इसलिए उसने तलवार खींची और तेजी से उस लड़की के नीचे से घुमाई। लेकिन लड़की के नीचे कुछ भी नहीं था। अब कहो यह क्या है? यह कोई जादू न था और न कोई असाधारण बात ही थी। यही वैशिष्ठ्य है। कोई भी भारतीय तुम्हें ऐसा न कहेगा कि इस तरह की घटना नहीं हो सकती। भारतीय के लिए यह एक व्यवहार की बात है। तुम जानते हो कि हिन्दुओं को शत्रुओं से युद्ध करना होता है तो वे क्या कहते हैं, "हमारा एक योगी तुम्हारे झुंड मार भगावेगा।" उस राष्ट्र का यह अत्यन्त विश्वास है। हाथ में और तलवार में ताकत कहां? ताकत है आत्मा में।

अगर यह सच है तो मन के लिए यह काफ़ी प्रलोभन है कि वह उत्कृष्टतम प्रयत्न करे। लेकिन कोई बड़ा यश सम्पादन करना जिस तरह प्रत्येक शास्त्र में कठिन है उसी तरह इस क्षेत्र में भी। नहीं, बल्कि यहां अधिक कठिन है। फिर भी अनेक लोग समझते हैं कि ये शक्तियाँ सुगमता से प्राप्त की जा सकती हैं। सम्पत्ति प्राप्त करने के लिए तुम्हे कितने वर्ष व्यतीत करना पड़ता है? जरा इसका विचार करो। वास्तुशास्त्र (Engineering) के बीजली विभाग के अध्ययन में ही प्रथम तुम्हें कितने वर्ष व्यतीत करने पड़ते हैं। और फिर सारी उम्र उसे अमल में लाते रहना पड़ता है।

पुनःश्च इतर शास्त्रों का विषय है स्थिर वस्तुएँ—ऐसी वस्तुएँ जो हलचल नहीं करतीं। तुम कुर्सी का पृथक्करण कर सकते हो, कुर्सी दूर नहीं भाग जाती। लेकिन यह शास्त्र मन को अपना विषय बनाता है—वह मन जो सदा चंचल है। ज्योंही तुम उसका अध्ययन करना चाहते हो वह भाग जाता है। अभी मन में एक भावना उदित है,

अभी दूसरी भावना उदित हो जाती है, बस इस तरह वह मन बदलता ही बदलता जाता है। इन विकारों के चलते समय ही उसका अध्ययन करना पड़ता है, उसे समझना पड़ता है, उसका आकलन करना पड़ता है, उसको अपने वश में लाना पड़ता है। तो फिर देखो कि यह शास्त्र कितना अधिक कठिन है! यहां कठिन अभ्यास की आवश्यकता है। लोग मुझे पूछते हैं कि तुम प्रत्यक्ष प्रयोग कर क्यों नहीं दिखलाते? अजी! यह मज़ाक नहीं है। मैं इस प्लैटफार्म पर खड़े खड़े संभाषण करता हूं और तुम घर चले जाते हो। तुम्हें कोई फ़ायदा नहीं होता और न मुझे ही। तब तुम कहते हो, "यह सब पाखण्ड है।" ऐसा इसलिए कि तुम ही इसे पाखण्ड बनाना चाहते थे। इस शास्त्र का मुझे बहुत थोड़ा ज्ञान है, लेकिन जो कुछ थोड़ा मैं जानता हूं उसका तीस साल तक मैंने अभ्यास किया है और छः साल हुए लोगों को वह सिखला रहा हूं जो कुछ थोड़ा मैं सीखा हूं। मुझे तीस साल लगे इसके अभ्यास के लिए। तीस साल की कड़ी कोशिश! कभी कभी चौबीस घंटों में बीस घंटे मैं प्रयत्न करता रहा हूं। कभी रात में एक ही घंटा सोया हूं। कभी रात रातभर मैंने प्रयोग किये हैं, कभी कभी मैं ऐसे स्थानों में रहा हूं जहां किसी प्रकार का कोई शब्द न था, सांस तक की आवाज न थी। कभी मुझे गुफाओं में रहना पड़ा है। इस बात का तुम विचार करो। और फिर भी मुझे बहुत थोड़ा मालूम है या बिलकुल ही कुछ नहीं। मैंने बमुश्किल इस शास्त्र रूपी कपड़े की किनार सिर्फ़ छू पाई है। लेकिन मैं समझ सकता हूं कि यह सच है, विस्तृत है और आश्चर्यकारक है।

अब अगर तुम में से कोई इस शास्त्र का अध्ययन करना चाहता है तो उसी प्रकार के निश्चय से उसे आरम्भ करना होगा जिस निश्चिति

से वह व्यापार का आरम्भ करता है। नहीं वल्कि जीवन के किसी भी व्यापार से उसे इसमें अधिक निश्चय लगाना होगा।

व्यापार के लिए कितनी सावधानता की जरूरत होती है और वह व्यापार कितने कड़े श्रम की हम से माँग करता है। अगर बाप, मा, औरत, बच्चा भी मर जावे तौभी व्यापार नहीं ठहरता। चाहे हमारे हृदय के टुकड़े टुकड़े हो रहे हों फिर भी हमें व्यापार की जगह पर जाना ही होगा फिर चाहे व्यापार का हर एक घंटा हमारे लिए यंत्रणा हो। यह है व्यापार और हम फिर भी समझते हैं कि यही ठीक है, इसमें क्या अन्याय्य है।

यह शास्त्र किसी भी अन्य व्यापार से अधिक लगन माँगता है। व्यापार में तो अनेक यशस्वी हो सकते हैं, लेकिन बहुत ही थोड़े इस मार्ग में। क्योंकि यहां पर अधिकांश अध्येता की मानसिक अवस्था-पर अवलंबित रहता है। जिस तरह व्यापारी चाहे दौलत जोड़ सके चाहे वह न जोड़ सके लेकिन कुछ कमाई जरूर कर लेता है, उसी तरह इस शास्त्र के प्रत्येक अध्येता को कुछ ऐसे दर्शन हो जाते हैं जिससे वह स्वयं विश्वास कर ले सकता है कि ये बातें सच हैं और ऐसे मनुष्य पैदा हो सकते हैं जिन्होंने इसका पूर्ण अनुभव कर लिया है।

इस शास्त्र की यह सिर्फ़ रूप रेषा हैं। यह शास्त्र स्वयं अपने पैरों पर खड़ा है और स्वयं ही प्रकाशमान है और आव्हान करता है कि आप इसकी अन्य शास्त्रों से तुलना करो। दुनिया में पाखण्डी, जादूगर, धोखेबाज अनेक हो गये हैं और विशेषतः इस क्षेत्र में। ऐसा क्यों? इसीलिए कि जो व्यापार जितना अधिक फायदे मंद होता है उसमें उतने ही अधिक पाखण्डी और धोखेबाज होते हैं। लेकिन उस व्यापार के अच्छे न होने के लिए यह कोई कारण नहीं। और एक बात

बतला देना चाहता हूँ। इस क्षेत्र के अनेक वादों को सुनना यह बुद्धि की चाहे बड़ी अच्छी कसरत हो, और आश्चर्यजनक बातें सुनने से चाहे तुम्हें बुद्धिजन्य संतोष प्राप्त हो, लेकिन अगर सचमुच तुम्हें कुछ सीखने की इच्छा है तो सिर्फ संभाषणों को सुनने से काम न चलेगा। यह व्याख्यानों द्वारा नहीं सिखलाया जा सकता। क्योंकि यह शास्त्र है जीवन और जीवन ही जीवन का ज्ञान करा सकता है। अगर तुममें से सचमुच कोई अध्ययन करना चाहता है तो उसको मदद देने में मुझे बहुत आनन्द होगा।

स्फुट-गौण्य

(ज्ञान-योग)

(लॉस एन्जल्स में दिया हुआ भाषण, कॅलीफोर्निया)

वस्तुओं का सत्य धर्म क्या है यह जानने के लिए हम चाहे जिस दिशा में झुकें हमें यही दिखाई देगा कि अन्त में हम वस्तुओं की ऐसी अजीब अवस्था पर आ पहुंचते हैं जो विरोधात्मक सी प्रतीत होती है। उस अवर्ण्य धर्म को आ पहुँचते हैं जो ग्रहण तो किया नहीं जा सकता फिर भी सत्य वस्तु है। एक वस्तु की ओर हम झुकते हैं, हम जानते हैं कि वह मर्यादित (finite) है। लेकिन ज्योंही हम पृथक्करण करने लगते हैं तो हमें वह एक ऐसे क्षेत्र में ले जाती है जो बुद्धि के अतीत है। उसके गुण धर्मों का, उसकी भाविनी अवस्थाओं का, उसकी शक्तियों का और उसके सम्बन्धों का हम अन्त नहीं पा सकते। वह अनन्त बन जाती है। प्रतिदिन के व्यवहार का फूल ही लो। वह काफी मर्यादित है। लेकिन ऐसा कौन है जो कह सकता है कि मैंने फूल के बारे में सब कुछ जान लिया। उस फूल की अवस्थाओं का अन्त ज्ञात होना किसी के लिए भी संभवनीय नहीं है। आरम्भ में फूल मर्यादित प्रतीत होता था, अब वह अनन्त बन बैठा है। रेती का एक कण लो। उसका पृथक्करण करो। हम यह प्रमेय स्वीकार कर आरम्भ करते हैं कि वह मर्यादित है; अन्त में हम देखते हैं कि वह मर्यादित नहीं है, वह अनन्त है। फिर भी हम उसे मर्यादित वस्तु की दृष्टि से ही देखते आये थे। इस तरह फूल को भी हम एक मर्यादित वस्तु की दृष्टि से ही देखते हैं।

यही नियम विचारों और अनुभवों के विषय में है चाहे वह भौतिक हो अथवा मानसिक। हम सोचें कि हम छोटे प्रमाण में आरम्भ करते हैं और छोटी वस्तुएँ समझ ग्रहण करना चाहते हैं, लेकिन शीघ्र ही वे हमारे ज्ञान को धोखा दे देतीं हैं और अनन्त की गुहा में विलीन हो जातीं हैं। सब में महत्व का और प्रथम जो दर्शन होता है वह है स्वयं 'हम'। अस्तित्व के विषय में भी वही विकट समस्या उपस्थित हो जाती है। लेकिन हमारा अस्तित्व है। हम देखते हैं कि हम मर्यादित जीव हैं। हम जन्म लेते हैं और हमारा अन्त होता है। हमारा क्षितिज परिमित है। ये देखो हम यहां मर्यादित अवस्था में उपस्थित हैं और सारा विश्व हमें देख रहा है। निसर्ग एक क्षण में हमारा अस्तित्व मिटा सकता है। हमारे छोटे छोटे शरीर बमुश्किल संकलित हैं, लेकिन किसी भी क्षण टुकड़े टुकड़े होने के लिये तैय्यार जैसे हैं। यह हमें निश्चित मालूम है। कर्मक्षेत्र की दृष्टि में हम कितने असहाय हैं। हर घड़ी हमारी इच्छाओं पर आघात बैठता है। हम कितनी अनेक बातें करना चाहते हैं और कितनी थोड़ी कर पाते है। हमारी वासना का कोई अन्त नहीं। हम किसी भी वस्तु की वासना कर सकते हैं। कोई भी वस्तु चाह सकते हैं, हम व्याध के तारे तक पहुंचने की भी इच्छा कर सकते हैं। हमारी कितनी कम इच्छाएँ पूर्ण होती हैं। शरीर ही हमारी इच्छाएँ पूर्ण न होने देगा। स्वयं निसर्ग ही हमारी इच्छापूर्ति के विरुद्ध है। हम असहाय हैं। भौतिक जग के फूल या रेती के कण को जो सिद्धान्त लागू है अथवा प्रत्येक विचार की पार्श्वभूमि में जो सत्य है वही सत्य हजार गुना हमको लागू है। हमारे अस्तित्व की भी समस्या है। मर्यादित होकर भी एकसमयावच्छेदी हम अनन्त हैं। हम समुद्र पर उठने वाली लहरों के समान हैं। लहर

में समुद्र के सम्पूर्ण गुण विद्यमान हैं फिर भी लहर कुछ समुद्र नहीं है। लहर का ऐसा कोई हिस्सा नहीं है जिसे हम ऐसा न कह सकें कि 'यह समुद्र है।' समुद्र यह नामाभिधान उसे तथा उसके प्रत्येक अंग को लागू है और फिर भी प्रत्येक लहर समुद्र से स्वतंत्र है। इसी तरह इस असीम जीवन समुद्र में हम छोटी छोटी लहरों के समान हैं। अन्यतः जब हम खुद को ग्रहण करना चाहते हैं तो हम अपने को सचमुच नहीं पकड़ पाते क्योंकि हम अनन्त बन चुके हैं।

हम लोग स्वप्न संसार में चल से रहे हैं। मन की स्वप्नमय अवस्था में स्वप्न सत्य ही होते हैं, लेकिन ज्योंही हम उन्हें ग्रहण करना चाहते हैं वे लुप्त हो जाते हैं। ऐसा क्यों? इसलिए नहीं कि उसका अस्तित्व झूठा है, लेकिन इसलिए कि वे बुद्धि और विवेक की ग्रहण शक्ति के परे हैं। इस दुनिया की प्रत्येक वस्तु इतनी विस्तृत है कि उसकी तुलना में हमारी बुद्धि कुछ नहीं है, वह बुद्धि के नियमों में बैठने से इन्कार करती है। बुद्धि अपने पाश उसके आसपास जब फैलाना चाहती है तो वह हँसती है। आत्मा के विषय में तो यही तत्व हजार गुना सत्य है। "स्वयं हम" ही दुनिया का सब में बड़ा गूढ़ है।

ओह! यह सब कितना आश्चर्यमय है। मनुष्य की आँख ही देखो। महत्तम सूर्य को क्यों अस्तित्व है? इसलिए कि हमारी आँख उसे देख रही है। दुनिया इसलिए विद्यमान है कि तुम्हारी आँख शिफ़ारिस करती है कि वह विद्यमान है। जरा इस गूढ़ पर विचार करो। ये बिचारी छोटी आँखें! तेज उजियाला या एक अलपीन इन्हें नष्ट कर दे सकती है। लेकिन नाश के बृहत्तम यंत्र, प्रलयकाल के बलिष्ठ-तम साधन, कोट्यावधि सूर्य, तारे, चंद्र, भूमंडल इन सब का अस्तित्व इन दो छोटी आँखों पर अवलम्बित है और इन दो छोटी आँखों की

शिफारिस की इन्हें आवश्यकता होती है। आँखें कहती हैं कि 'हे निसर्ग, तुम विद्यमान हो' और हम विश्वास करते हैं कि निसर्ग विद्यमान है। हमारी प्रत्येक इन्द्रिय के बारे में ठीक यही सच है।

यह क्या है ? हमारी कमजोरी कहां है ? कौन बलिष्ठ है ? कौन बड़ा है और कौन छोटा ? इस आश्चर्यजनक परस्पराधार के अस्तित्व में जहां छोटे से छोटा परमाणु भी सम्पूर्ण विश्व के अस्तित्व के लिये आवश्यक है किसे हम ऊँचा कह सकते हैं और किसे नीचा ? कौन बड़ा है और कौन छोटा ? यह अन्वेषण के परे है। और क्योंकर ? इसलिए कि न कोई बड़ा है और न छोटा। प्रत्येक वस्तु उस असीम समुद्र से अन्तर-प्रविष्ट है। वही अनन्त उनमें विद्यमान सत्य है। और जो कुछ धरा-तल पर प्रकट होता है, वह भी अनन्त ही है। वृक्ष अनन्त है और इसी तरह प्रत्येक वस्तु जो तुम देखते हो या छूते हो अनन्त है। रेत का प्रत्येक कण, प्रत्येक विचार, प्रत्येक जीव, प्रत्येक विद्यमान वस्तु अनन्त है। जो मर्यादित है वही अनन्त (अमर्याद) है और जो अनन्त है वही मर्यादित है। यह है हमारा अस्तित्व।

अब यह सब सच हो सकता है। लेकिन अनन्तमयी ये भावनाएँ वर्तमान में अक्सर अज्ञेय होती हैं। यह बात नहीं है कि हम अपना अनन्त स्वभाव भूल गये हैं। हम अपना अनन्तत्व भूल नहीं सकते। ऐसा कौन सोच सकता है कि वह काटकर दूर कर दिया जावेगा। कौन सोच सकता है वह मर जावेगा। ऐसा कोई नहीं सोच सकता। अनन्त से लगे हुए हमारे सारे सम्बन्ध अज्ञेयावस्था में काम करते रहते हैं। एक तरीके से इसलिए हम अपने सच्चे अस्तित्व को भूल जाते हैं। और इसीलिए है यह सारी तकलीफ़।

प्रतिदिन के व्यवहार में छोटी छोटी बातें हमें चोट पहुंचाती

हैं, छोटे छोटे जीव हमको दास बनाये हैं। हम दुःखी इसीलिए होते हैं कि हम समझते हैं हम मर्यादित हैं, हम छोटे हैं। फिर भी यह विश्वास होना कि हम अनन्त हैं कितना कठिन है। दुःख और शोक के बीच जब एक छोटी वस्तु मेरे मन की समतुला उलटा देती है तो मेरा यह कर्तव्य है कि मैं विश्वास करूं कि मैं अनन्त हूँ और सत्य तो यह है कि हम अनन्त हैं। और चाहे जानते हुए चाहे अनजाने हम उसी अशेष के अन्वेषण में लगे हैं, जो अनन्त है। हम सदा उसकी खोज में है, जो स्वतंत्र है।

आज तक कभी ऐसी जाति पैदा ही नहीं हुई जिसने किसी प्रकार के धर्म का अंगीकार न किया हो या ईश्वर अथवा ईश्वरों की पूजा न की हो। चाहे एक या अनेक ईश्वर विद्यमान हों या न हों। प्रश्न यह नहीं है। प्रश्न तो है इस मानसशास्त्रीय वस्तुजात के पृथक्करण का। सारी दुनिया ईश्वर की खोज में—ईश्वर को ढूंढ निकालने में क्यों लगी है? कारण यह है कि यद्यपि हम इन पाशों से बंधे हैं, यद्यपि यह निसर्ग और उसकी भयंकर नियामक शक्ति हमें पीस सी डाल रही है और हमें करवट तक बदलने नहीं देती, यद्यपि हम चाहे जहां जावें और चाहे जो करने की इच्छा करें यह नियामक शक्ति जो सर्वत्र विद्यमान है, हमें अड़ाती ही रहती है; तथापि जीव स्वातंत्र्य को कभी नहीं भूलता और सर्वदा उसकी खोज में है। **दुनिया के सब धर्मों की खोज एक ही है वह है स्वातंत्र्य की खोज।** चाहे वे जाने या न जाने। चाहे वे यह निष्कर्ष निकाल सकें चाहे न निकाल सकें, तत्व वहां विद्यमान है। क्षुद्रतम मनुष्य, मूर्ख से मूर्ख जीव इसी चेष्टा में लगा हुआ है कि वह ऐसी शक्ति पावे जिससे वह निसर्ग पर अपना

अधिकार चला सके। राक्षस का, भूत का, ईश्वर का या ऐसी ही किसी वस्तु का वह दर्शन करना चाहता है, जो निसर्ग को अपने आधीन कर लेगी जिसके लिए निसर्ग सर्व शक्तिमान नहीं है, जिस वस्तु का (शक्ति का) कोई दूसरा नियामक नहीं है। "ऐसे किसी की चाह है जो कायदा तोड़ सकता है!"—मनुष्य के हृदय से यही आवाज निकल रही है। हम सदा इसी खोज में हैं कि ऐसा कोई मिल जावे जो नियामक शक्ति को तोड़ सके। लोहमार्ग पर दौड़ते हुए तेज एन्जिन को देख राह में रेंगने वाला कीड़ा दूर हट जाता है। हम एकदम कह उठते हैं, "एन्जिन तो निर्जीव वस्तु है—एक यंत्र है, लेकिन कीड़ा जानदार है" इसलिए कि कीड़े ने कायदा तोड़ने का प्रयत्न किया। पूरी शक्ति और सामर्थ्य विद्यमान होने पर भी एन्जिन कायदा नहीं तोड़ सकता। जिस दिशा में एन्जिन जावे ऐसा मनुष्य चाहता है उसी दिशा में एन्जिन को जाना पड़ता है। अन्यत्र वह नहीं जा सकता। कीड़ा यद्यपि छोटा था तोभी उसने नियम तोड़ने का और आपत्ति से बचने का प्रयत्न किया। नियामक शक्ति पर अपना अधिकार चलाने की उसने चेष्टा की। उसने अपना स्वातंत्र्य जतलाने का प्रयत्न किया। और उस कीड़े में आगामी परमेश्वर का यह प्रतीक था।

यह अपनी हुकूमत चलाने की चेष्टा, यह जीव का स्वातंत्र्य हर जगह प्रकट होता है। प्रत्येक धर्म में एक या अनेक ईश्वर के स्वरूप में यह प्रकट होता है। लेकिन परमेश्वर को जो सिर्फ़ बहिरंग देखना चाहते हैं उनके लिये यह सब बाह्याचार है। मनुष्य ने स्वयं ही निश्चय कर लिया कि वह ना कुछ है। उसे यह डर था कि वह कभी स्वतंत्र नहीं हो सकता। इसलिए वह ऐसे किसी की खोज में

घूमने लगा जो स्वयं स्वतंत्र है और निसर्ग के परे है। फिर उसने सोचा कि ऐसे स्वतंत्र अस्तित्व अनेक हैं और धीरे धीरे उसने ईश्वरों के ईश्वर और शासकों के शासक में उन सब को लीन कर दिया। इस पर भी उसे समाधान न हुआ। कालान्तर से सत्य के कुछ थोड़ा करीब वह आया। और फिर उसे मालूम हुआ कि वह चाहे जो कुछ हो किसी न किसी तरह उसका उस ईश्वरों के ईश्वर से और शासकों के शासक से कुछ सम्बन्ध है। वह जो अपने को असहाय, अवनत, मर्यादित ऐसा समझता था परमेश्वर से किसी न किसी तरह संलग्न है। उसे दिव्य दर्शन होने लगे, विचार उठने लगे, और ज्ञान की वृध्दि होने लगी। वह परमेश्वर के नज़दीक आने लगा। अन्त में उसे पता चला कि परमेश्वर और अनेक ईश्वर और मानसशास्त्रीय वस्तुजात की सर्व शक्तिमान और स्वतंत्र आत्मा की खोज ये सब उसके रचे हुए विचार के प्रतिविम्ब मात्र हैं। तत्पश्चात् उसने सिर्फ इतना ही सत्य नहीं जाना कि "मनुष्य यह ईश्वरानिर्मित एवम् उस ईश्वर का प्रतिविम्ब है।" (God made man after his own image) बल्कि उसने यह भी सत्य जाना कि "ईश्वर यह मनुष्य निर्मित है तथा मनुष्य का प्रतिविम्ब है।" (Man made God after his own image) स्वर्गीय स्वातंत्र्य की कल्पना यहां से शुरू हुई। परमेश्वर सर्वदा अपने अंतरंग में नज़दीक से नज़दीक विराजमान था। और फिर भी हम उस की खोज बाहर ही किये जा रहे थे। अन्त में उसे अपने हृदय की गुहा में ही विराजमान पाया। तुमने उस मनुष्य की कथा सुनी होगी जिसने अपने हृदय की धड़कन ही को गलती से ऐसा समझा कि दूसरा बाहर खटखटाता है। इसलिए वह बाहर गया और उसने दरवाजा खोला तो देखा कि

कोई न था। वापस लौट आया। फिर से वही दरवाजा खटखटाने की आवाज आती हुई मालूम हुई। लेकिन दरवाजे पर कोई न था। तब वह समझा कि यह दरवाजे की खटखटाहट न थी। यह थी उसके हृदय की धड़कन। उसी तरह अपनी खोज के बाद मनुष्य ने यही देखा कि वह अनन्त स्वातंत्र्य, जिसे अपनी कल्पनाशक्ति द्वारा स्वयं अपने से बाहर निसर्ग में प्रस्थापित कर रहा था, वास्तव में अन्तस्थ विषय था, अन्तरस्थ आत्माओं की आत्मा थी। यह सत्य स्वयं वही था।

अन्त में यह आश्चर्यमय, द्वैतमय अस्तित्व उसकी समझ में आने लगा। यानी कर्ता अनन्त है और मर्यादित भी है। वह अनन्त बुद्धि की पाश में पकड़ा गया हुआ सा प्रतीत होता है और मर्यादित जीव के स्वरूप में प्रकट होता है। लेकिन वास्तवता अविकृत ही रही आती है।

इसलिए सच्चा ज्ञान यही है कि आत्माओं की आत्मा या हमारे अन्दर विराजमान रहने वाली वास्तवता वह तत्पद है जो अविकार्य है, शाश्वत है, आनन्द स्वरूप है और स्वतंत्र है। यही एक अचल प्रमेय है, जिसके आधार पर हम खड़े रह सकते हैं।

तो फिर मृत्यु का अन्त यही है। अमरत्व का आरम्भ यही है। और दुःख का अन्त यही है। और जो मानव अनेकों में उसी एक का अस्तित्व देखता है--उस एक को जो सिर्फ़ इस विकृत जगत में अविकार्य है; पुनश्च जिसने उसे अपनी आत्मा की भी आत्मा है ऐसा पहचाना है उसे ही शाश्वत शान्ति प्राप्त होती है—दूसरे को नहीं।

यंत्रणा और पतन के बीच आत्मा अपनी एक किरण भेज देती है और मनुष्य जग उठता है और वह जान लेता है कि जो कुछ उसका है उसे वह खो नहीं सकता। हाँ, जो कुछ हमारा है उसे हम कभी नहीं खो सकते। कौन अपना जीवन खो सकता है? अपना

स्वयं अस्तित्व कौन खोवेगा। अगर मैं अच्छा हूँ तो प्रथम वह मेरा अस्तित्व ही है और बाद में सद्गुण का उस पर रंग चढ़ता है। अगर मैं बुरा हूँ तोभी प्रथम वह मेरा अस्तित्व है और बाद में दुर्गुण का उस पर रंग चढ़ता है। अस्तित्व आरम्भ में था, अन्त में रहेगा, सर्वदा विद्यमान है, वह कभी नहीं खोता बल्कि सदा विद्यमान रहता है।

इसीलिए छुटकारे की सब को आशा है। कोई मर नहीं सकता। सदा के लिए कोई पतित नहीं रह सकता। जीवन यह एक खेल का मैदान है, जहां खेल होना ही जाना चाहिए वह खेल चाहे जितना ही जंगली क्यों न हो। हम पर चाहे जितने ही घूंसे पड़ें, हमें चाहे जितने ही धक्के मिलें लेकिन आत्मा का अस्तित्व वहां विद्यमान है और उसे कभी कोई चोट नहीं पहुंच सकती। हम वहां अनन्त हैं।

एक वेदान्ती इस तरह गाता था।—

मुझको संशय कभी नहीं था, नहीं कभी था डर मुझको।
मरण न आया कभी मुझे है, क्योंकि जन्म ही नहिं मुझको॥
नहीं मुझे है मात तात ही, शत्रु मुझे है कहो कहां।
क्योंकि मैं तो दृश्यजात हूँ, विद्यमान अस्तित्व अहा॥
मैं ज्ञानी हूँ अनन्त सुख मैं, मैं हूँ तत् तत् मैं हूँ।
सोऽहं सोऽहं अथवा कहिये, चिदानन्द सत् मैं ही हूँ॥
क्रोध लोभ तो छुआ न मुझको, छुई न इर्षा बुरे विचार।
चिदानन्द सत् मैं हूँ सोऽहम् (यह है मेरा गायन सार)॥

सब रोगों के लिये यही रामबाण है। यही वह अमृत है जो मृत्यु को जीत लेता है। यह देखो हम यहां दुनिया में विद्यमान हैं और हमारा स्वभाव उसके विरुद्ध लड़ाई पुकार रहा है। लेकिन चलो हम लोग गावें—

सोऽहं, सोऽहं, भीति न मुझको, संशय मृत्यू मुझे नहीं।
जात-पात नहिं, वर्ण भेद नहिं, कैसी जाती मुझे कही॥
कौन जाति है इस दुनिया में, जिसका मैं हो सकता हूँ।
कौन पंथ मुझको अपनावे, सर्व पंथ तो मैं ही हूँ॥

शरीर चाहे जितना ही विरोध करे, मन लड़ने के लिये चाहे जितना ही उठ खड़ा हो, इस घन अंधःकार में, इस जलाती हुई यंत्रणा में, इस घोरतम नैराश्य में, एक वार, दो वार, तीन वार, और अनेक वार यही गावो। आहिस्ता और आराम से लेकिन निश्चय से प्रकाश आवेगा।

अनेकों वार मैं मृत्युमुख में पड़ा हूँ, क्षुधातुर रहा हूँ, पैर फटे हैं और थकावट आई है। लगातार अनेक दिनों तक मुझे अन्न न मिला और अक़सर मैं एक पग भी न चल सकता था। मैं झाड़ के नीचे बैठ जाता और ऐसा मालूम होता था कि अब प्राण निकलेंगे। बोलना मुझे कठिन हो जाता था और मैं विचार तक न कर सकता था। अन्त में मेरा मन इस विचार पर लौट आया, "मुझे डर कहां? मैं कैसे मर सकता हूँ? मुझे न कभी भूख लगती है और न प्यास। मैं तो वही हूँ। सो ऽहमस्मि। यह सम्पूर्ण विश्व मुझे कुचल नहीं सकता। वह तो मेरा दास है। ये शासकों के शासक और ईश्वरों के ईश्वर, तू अपनी हुकूमत चला और गुमा हुआ साम्राज्य फिर से प्राप्त कर, उठ खड़ा हो, चल और ठहरना मत।" ऐसा विचार लौट आने पर मैं नवचैतन्य पा उठ खड़ा होता था और यह देखो तुम लोगों के सामने जीता जागता हूँ। इस तरह जब जब अंधःकार का आक्रमण हो तो अपने सत्व की हुकूमत चलाओ और जो जो कुछ प्रतिकूल है अदृश्य हो जावेगा। क्योंकि आखिर यह सब स्वप्न है।

आपत्तियाँ पर्वतप्राय भले ही दिखें, चाहे सब जगह अंधियारा दिखे लेकिन यह सब माया है। डरो मत, यह भाग जावेगी। इसे कुचलो और वह लुप्त हो जाती है। इस पर अपनी छाप मारो और वह मर जाती है। डरो मत; कितने बार अपयश मिलेगा यह मत सोचो। चिन्ता न करो। काल असीम है। आगे बढ़ो पुनः पुनः हुकूमत चलाओ। ज्योति का प्रकाश अवश्य ही होगा। जन्म लिये हुए प्रत्येक मनुष्य की चाहे तुम प्रार्थना करो लेकिन कौन तुम्हें आकर मदद देगा? जिस मृत्यु से किसी ने छुटकारा न पाया उस मृत्यु के बारे में आप क्या करोगे?

स्वयं ही अपने को उबारो। भाई, दूसरा कोई तुम्हें मदद न पहुंचावेगा। क्योंकि तुम स्वयं ही अपने सब में बड़े शत्रु हो और तुम स्वयं ही अपने सब में बड़े मित्र। तो फिर आत्मा का ग्रहण करो। उठ खड़े होवो, डरो मत। यंत्रणाओं और कमजोरियों के बीच आत्म-प्रकाश को आने दो, चाहे आरम्भ में वह अस्पष्ट और फीका हो। तुम्हें धैर्य आता जावेगा और अन्त में तुम शेर के समान गरज उठोगे, "मैं वह हूँ, मैं वह हूँ।"

ना मैं नर हूँ ना मैं नारी, देव नहीं मैं ना दानव।
वृक्ष, पशु नहिं, नहिं मैं पौधा, धनिक दरिद्री या मानव॥
पढ़ा लिखा मैं न मैं अपढ़ हूँ, सर्व श्रेष्ठ मैं एक महा।
दृश्य जात सब मुझसे छोटा, तुलना करके लखो अहा॥
क्योंकि मैं तो वह हूँ, वह हूँ, सोऽहं सोऽहं अथवा बोल।
सूर्य, चंद्र में इन तारों में, चमकीला मैं तेजो गोल॥

अग्नि की मैं प्रभा मोहिनी, मैं हूँ ताकत दुनिया की।
मैं तो वह हूँ, मैं तो वह हूँ, (यह है सांई की साखी)॥

"जो कोई यह सोचता है कि मैं छोटा हूँ, गलती खा रहा है। क्योंकि जो विद्यमान है वह स्वयं आत्मा ही है। सूर्य का अस्तित्व इसलिए है कि मैं कहता हूँ सूर्य है और जब मैं उद्घोषित करता हूँ कि दुनिया विद्यमान है तब ही उसे अस्तित्व प्राप्त होता है। मेरे सिवाय वे नहीं रह सकते। क्योंकि मैं तो अस्तित्व हूँ, ज्ञान हूँ, और पूर्णानंद हूँ। मैं सदा सुखी हूँ, मैं सदा शुचि हूँ, मैं सदा सुहावना हूँ। ध्यान दो, सूर्य के कारण ही प्राणि मात्र को दिखता है, लेकिन किसी की भी आँख की खराबी का उस पर कोई परिणाम नहीं होता। मैं भी इसी तरह हूँ। शरीर की सब इन्द्रियों द्वारा मैं काम करता हूँ, प्रत्येक वस्तु के अन्तर्गत मैं काम कर रहा हूँ, लेकिन काम के बुरे भले गुण का परिणाम मुझ पर नहीं होता। मेरा कोई नियामक नहीं है और न कोई 'कर्म'। मैं ही 'कर्मों' का नियामक हूँ। मैं तो सदा वही था जो अभी हूँ।

"भौतिक वस्तुओं में मेरा सच्चा सुख कभी न था। न तो पति में, न पत्नी में, न पुत्रों में और न अन्य किसी वस्तु में मैं तो अनन्त नील आकाश के समान हूँ। अनेक वर्ण के मेघ उस पर हो गुजरते हैं और कुछ क्षण क्रीड़ा कर जाते हैं। वे निकल जाते हैं और विकारहीन वह नीला आकाश वहां वैसा ही रहा आता है। सुख और दुःख, अच्छा और बुरा मुझे एक क्षण के लिये ढाँक ले फिर भी वहां मेरा अस्तित्व है। वे इसलिए निकल जाते हैं कि वे बदलने वाले हैं। मैं चमकता हूँ इसलिए कि मैं विकारहीन हूँ। अगर दुःख आता है तो

मै जानता हूँ कि वह मर्यादित है। उसका अन्त अवश्य होगा। अगर बुराई आती है तो मैं जानता हूँ कि वह मर्यादित है। उसे निकल जाना होगा। मैं ही सिर्फ़ अनन्त हूँ और किसी का मुझे सम्पर्क नहीं लग सकता। क्योंकि मैं अकेला ही तो अनन्त हूँ, शाश्वत हूँ, विकार हीन आत्मा हूँ"— हमारे एक कवि ने इस तरह गाया है।

आवो और इस प्याली का पेय पीवें। यह प्याली जो प्रत्येक अमर वस्तु की ओर यानी जो विकार हीन है ऐसी प्रत्येक वस्तु की ओर हमें ले जाती है! डरो मत, ऐसा मत विश्वास करो कि हम में बुराई है, हम मर्यादित हैं या हम मर सकते हैं। यह सच नहीं है। एतदेव "श्रोतव्यं, मन्तव्यं, निदिध्यासितव्यम् ." जब हाथ काम करते रहें मन को कहना चाहिये, 'सोऽहं, सोऽहं।' सोचो तो यही सोचो, स्वप्न देखो तो इसी का, यहां तक कि यह तुम्हारी हड्डियों की हड्डी और गोश्त का गोश्त बन जावे। यहां तक कि क्षुद्रभाव के, कम जोरियों के, यंत्रणाओं के और बुराइयों के सब भयानक स्वप्न बिल्कुल गायब हो जावें। इसके बाद एक क्षण के लिये भी सत्य तुमसे छिपा न रहेगा।

भक्ति अथवा उपासना

[भक्ति-योग]

कुछ थोड़ेसे धर्मों को छोड़कर प्रत्येक धर्म में सगुण परमेश्वर की कल्पना ने अधिष्ठान पा लिया है। शायद जैन और बुद्धों को छोड़ प्रत्येक धर्म सम्प्रदाय ने सगुण परमेश्वर की कल्पना स्वीकार की है और उस कल्पना के साथ उपासना और पूजा की कल्पना का उगम हुआ है। यद्यपि बुद्ध और जैन सगुण परमेश्वर को नहीं मानते तथापि वे अपने तीर्थंकरों की ठीक वैसी ही पूजा करते हैं जिस तरह इतर धर्मोपासक सगुण परमेश्वर की। किसी एक ऐसे उन्नततर व्यक्ति की पूजा और उपासना करना जो मनुष्य को उसके प्रेम का बदला प्रेम से दे सके, यह कल्पना विश्वव्यापिनी है। विभिन्न धर्मों में प्रेम और भक्ति भिन्न भिन्न अवस्थाओं में विभिन्न प्रकार से प्रकट होती आई हैं। सब में पहली अवस्था है मंत्रोपासना। इस काल में निर्गुण की कल्पना आना ही करीब करीब असम्भव था और निर्गुण की कल्पना खींचकर इतने नीचे की सृष्टि में लाई गई थी कि करीब करीब वह व्यक्त वस्तु ही बन गई थी। मनुष्य अनेक प्रकार के स्वरूप मानने लगा और उसके साथ अनेक प्रतीकों का उदय हुआ। सम्पूर्ण विश्व का इतिहास यही दिखलावेगा कि इन साकार विचारों द्वारा और प्रतिकों द्वारा ही मनुष्य ने निर्गुण की कल्पना ग्रहण करने का प्रयत्न किया है। घंटियाँ, गायन, मंत्र, पुस्तकें, मूर्तियाँ और धर्म के बाह्य-साधन ये सब इस वर्ग में समाविष्ट होते हैं। मनुष्य की इन्द्रियों को

लुभाने वाली कोई भी वस्तु और निर्गुण की कल्पना करा देने वाली कोई भी सगुण वस्तु इस काल में पूजा का विषय बन बैठती है।

प्रत्येक काल में ऐसे धर्मोपदेशक जन्म लेते ही आये हैं, जिन्होंने प्रतीकों के और मंत्रोपासना के विरुद्ध कमर कसी है। लेकिन उनका यह प्रतिकार फ़िजूल हुआ है। क्योंकि मनुष्य जब तक मनुष्य है बहुजन समाज ऐसा कोई दृश्य प्रतीक अवश्य ही चाहेगा जिसका वह ग्रहण कर सके, जिसको केन्द्र मान उसके आसपास अपने मन के विचारों को गूंथ सके।

मुसलमानों ने और प्रॉटेस्टेन्ट पंथ के ईसाईयों ने मंत्रोपासना के उच्चाटन की ओर अपनी शक्ति खर्च की है तिसपर भी स्वयं उन पंथों में मंत्रोपासना घुस पड़ी है। मंत्रोपासना नष्ट नहीं हो सकती। बहुत प्रयास के बाद बहुजन समाज दूसरे प्रतीक को स्वीकारने के लिये ही पहिले प्रतीक का त्याग करता है। वही मुसलमान जो काफ़िर की उपयोग में लाई हुई मंत्रोपासना, प्रतीक, मूर्ति, या पूजा प्रकार को पाप समझता है जब स्वयं काबे के देवालय को आता है तो इस तरह नहीं सोचता।

जब कोई मुसलमान प्रार्थना करे तो यह आवश्यक है कि वह अपने को काबे में खड़ा हुआ समझे। जब वही मुसलमान हज्ज को जाता है तो देवालय की दीवार में लगा हुआ काला पत्थर उसे चूमना होता है। कयामत के दिन इस पत्थर पर छपे हुए ये करोड़ों आदरमय प्यार उठ खड़े होंगे और जो विश्वास करता है उसके अनुकूल उस दिन गवाही देंगे। काबे में झोमझीम नामक कुँआ है। मुसलमानों का विश्वास है कि अगर कोई इस कुँए का थोड़ा भी पानी निकाल पावे तो सम्पूर्ण पापों की उसे क्षमा कर दी जावेगी और न्यायदान के दिन उसे दूसरा शरीर प्राप्त होगा और वह अनन्त काल तक जिन्दा रहेगा।

दूसरे धर्मों में प्रतीकोपासना इमारतों के स्वरूप में प्रकट होती है। प्रॉटेस्टेन्ट पंथ वाले ऐसा समझते हैं कि गिरजाघर अन्य स्थानों से अधिक पवित्र होता है। गिरजा घर ही स्वयं प्रतीक है। या 'पवित्र पुस्तक' की बात लो। 'पुस्तक' की कल्पना उन्हें किसी भी अन्य प्रतीक से पवित्रतर है। इसलिए प्रतीकोपासना के विरुद्ध उपदेश देना व्यर्थ है। और फिर प्रतीकों के विरुद्ध उपदेश ही हमें क्योंकर देना चाहिए? मनुष्य प्रतीक इसलिए अमल में लाता है कि वह (प्रतीक) अपनी पार्श्वभूमि में विद्यमान विचारों को जतलावे। ध्येय है चैतन्य, न कि जड़ वस्तुएँ। इसलिए आकृतियाँ, मूर्तियाँ, घन्टियाँ, मोमबत्तियाँ, ग्रंथ, गिरजाघर, मंदिर, और अन्यान्य पवित्र प्रतीक ये बहुत अच्छे हैं और अध्यात्म वृक्ष की वाढ़ के लिये बहुत उपयोगी हैं लेकिन इसी कार्य के लिये, अधिक किसी के लिये नहीं। बहुजन समाज के विषय में यही दिख पड़ता है कि इस पौधे की वाढ़ ही नहीं होती। **गिरजाघर में जन्म लेना यह भाग्य है लेकिन उसी गिरजा में मरण आना यह है दुर्दैव।** आध्यात्मिक वृक्ष की वाढ़ में मदद पहुंचाने वाले उपासना प्रकारों में जन्म लेना अच्छा है लेकिन मनुष्य को उपासनाओं की मर्यादा में ही मरण आवे तो यह साफ दिख जावेगा कि उसका विकास नहीं हुआ। उसकी आत्मा की उन्नति नहीं हुई।

इसलिए अगर कोई कहे कि प्रतीकों की, मंत्रों की, और आकृतियों की सदा ही आवश्यकता है तो यह गलत है। लेकिन अगर वह कहे कि आत्मा के अविकसित काल में आत्मोन्नति के लिये ये आवश्यक हैं तो वह सच है। लेकिन यह आत्मोन्नति कोई बौद्धिक विकास है ऐसी गलती न कर बैठना चाहिए। एक मनुष्य विशाल बौद्धिक विकास वाला हो सकता है फिर भी आध्यात्मिक क्षेत्र में

अभी वह बच्चा ही हो। किसी भी क्षण तुम इसकी परीक्षा कर सकते हो। तुममें से प्रत्येक ने सर्व विद्यमान परमेश्वर में विश्वास करना सीखा है। वही सोचने की कोशिश करो। तुममें से कितने थोड़े सिर्फ़ कल्पना ही कर सकते हैं कि सर्वत्र विद्यमानत्व यानी क्या। अगर तुम कसकर कोशिश करो तो तुम्हें समुद्र की, आकाश की, विस्तृत हरियाली की, या मरूभूमि की कल्पना आवेगी। लेकिन ये सब जड़ वस्तुओं के चित्र हैं और जब तक तुम निर्गुण की कल्पना निर्गुण ही से नहीं कर सकते और जब तक निराकार, निराकार के स्वरूप में ही तुम्हें अवगत नहीं होता तब तक तुम्हें इन आकृतियों का, इन जड़ मूर्तियों का आश्रय करना ही होगा। ये आकृतियाँ चाहे मन के अन्दर होवें, चाहे मन के बाहर, इस से कुछ फ़र्क नहीं पड़ता। **हम सब मूर्ति-उपासक बनकर ही जन्म लेते हैं।** और मूर्ति-उपासना अच्छी है क्योंकि यह मनुष्य स्वभाव है। इस उपासना से कौन अतीत हो सकता है। सिर्फ़ वही जो पूर्ण विकसित है, जो ईश्वरीय मनुष्य है। बचे हुए सब मूर्ति-उपासक हैं। जब तक यह विश्व और उसकी आकृतियाँ हमारी आँखों के सामने खड़ी हैं तब तक हम प्रत्येक मूर्तिपूजक हैं। मूर्तिपूजा का यह पृथुतम प्रतीक है। जो कहता है कि मैं शरीर हूँ वह जन्मजात मूर्तिपूजक है। हम हैं आत्मा। वह आत्मा जिसे न आकार है और न रूप। वह आत्मा जो अनन्त है और जड़ का अभाव है। इसलिए प्रत्येक मनुष्य मूर्तिपूजक है जिसे निर्गुण की कल्पना नहीं करते आती और जो स्वयं अपनी कल्पना भी जड़ वस्तुओं द्वारा, उदाहरणार्थ शरीर का आधार लिये बिना नहीं कर सकता। तिस पर भी लोग एक दूसरे को "तू मूर्तिपूजक है" ऐसा दूषण देते हैं और कैसे लड़ते हैं। अन्य शब्दों में प्रत्येक कहता है

कि मेरी मूर्ति अच्छी और दूसरों की बुरी।

इसलिए इन बचपने की कल्पनाओं का हमें त्याग कर देना चाहिये। हमें उन मनुष्यों की कल्पनाओं से अतीत होना चाहिये जो समझते हैं कि सारा धर्म शब्द जाल में ही समाया है, या धर्म यानी सिर्फ़ शास्त्रों के सिद्धान्त हैं, जिनके लिए धर्म यह बुद्धि की किंचित सम्मति या विरोध ही है, जो धर्म यानी सिर्फ़ उनके उपदेशकों से बतलाये हुए शब्दों में विश्वास करना यही समझते हैं, जो धर्म यानी कोई ऐसी वस्तु समझते हैं जो उनके बाप दादाओं के विश्वास का विषय था, जिनके लिये विशिष्ट कल्पनाएँ और अन्ध विश्वास यही धर्म है और उसी को पकड़े रहते हैं—सिर्फ़ इसीलिए कि उनका यह राष्ट्रीय अन्ध-विश्वास है। हमें इन कल्पनाओं से अतीत होना चाहिये। अखिल मानव समाज को हमें एक ऐसा विशाल जीव समझना चाहिये जो धीरे धीरे उजियाले की ओर बढ़ रहा है, या वह आश्चर्य जनक पौधा समझना चाहिए जिसमें से ऐसा आश्चर्यजनक सत्य खिल उठेगा कि जिस सत्य को हम परमेश्वर कहते हैं। और इस ओर की पहिली हलचल, पहिली प्रक्रिया सदा मंत्रोपासना द्वारा और जड़ वस्तुओं द्वारा ही होती है।

इन मंत्रोपासनाओं में एक कल्पना मुख्यतः दिख आवेगी जो दूसरी सब कल्पनाओं में श्रेष्ठ है। वह है नाम की उपासना। तुम में से जिन लोगों ने पुराने ख्रिश्चियन धर्म का अभ्यास किया है, या तुम लोगों में से जिन्होंने दूसरे धर्मों का अध्ययन किया है उन्होंने शायद यह कह बतलाया है कि सब धर्मों के अन्तर्गत एक ही कल्पना है और वह है नाम की उपासना। ऐसा कहा जाता है कि नाम अत्यन्त पवित्र है। ईश्वर का पवित्र नाम सब नामों से और सब पवित्र वस्तुओं से पवित्रतर है ऐसा हमने बाइबल में पढ़ा है।

ईश्वर का नाम सब नामों में पवित्र माना गया और ऐसा समझा गया था कि यह पवित्रतम शब्द ही परमेश्वर है और यह सत्य है। क्योंकि यह विश्व नाम और रूप के व्यतिरिक्त क्या है? क्या शब्दों के सिवाय तुम सोच सकते हो? शब्द और विचार एक दूसरे से अलग नहीं किये जा सकते। अपने से कोई उनको अलग कर सकता हो तो प्रयत्न कर देखो। जब भी तुम सोचते हो तो शब्दजन्य आकृतियों द्वारा ही। एक से दूसरे का उद्‌बोधन होता है। नाम रूप की याद दिलाता है और रूप से नाम स्मरण आता है। यह सम्पूर्ण विश्व परमेश्वर के वाह्य रूप का सा है। और इस रूप के परे है विद्यमान परमेश्वर का गंभीर नाम। प्रत्येक शरीर है रूप और उस शरीर के परे रहता है उसका नाम। ज्योंही तुम अपने कोई दोस्त के नाम की याद करते हो, उसके शरीर की आकृति तुम्हारे सामने खड़ी हो जाती है; और ज्योंही तुम उसके शरीर की आकृति मन में लाते हो, उसका नाम तुम्हें याद आता है। यह मनुष्य का सहज स्वभाव है। अन्य शब्दों में मानसशास्त्र की दृष्टि से मनुष्य के मन में रूप के बोध के सिवाय नाम का बोध नहीं हो सकता और न नाम के बोध के सिवाय रूप का। वे दोनों अलग नहीं किये जा सकते। एक ही लहर की वे वाहरी और भीतरी बाजूएँ हैं। इसलिए नाम महत्तम माना गया है और दुनिया में सब जगह पूजा जाता है; चाहे जानकर या अनजाने, लेकिन मनुष्य को नाम का वैभव प्राप्त हुआ।

हम यह भी देखते हैं कि भिन्न भिन्न धर्मों में पवित्र पुरुषों की पूजा चली आ रही है। कोई कृष्ण की पूजा करता है और कोई क्राईस्ट की। कोई बुद्ध को पूजता है और कोई अन्य विभूतियों को। इसी तरह लोग साधुओं की पूजा करते आ रहे हैं। सैकड़ों साधु दुनिया में आज पूजे

जा रहे हैं। और वे क्योंकर न पूजे जाने चाहियें ? प्रकाश की लहर सर्वत्र विद्यमान है। उल्लू उसे अंधेरे में देखता है, इसी से स्पष्ट है कि वह वहां विद्यमान है। अब मनुष्य भले ही उसे न देख सके। मनुष्य को वह चमक सिर्फ़ दीपक में, सूर्य में, चंद्रमा इत्यादि में ही दिखाई देती है। परमेश्वर सर्वत्र विद्यमान है। वह घट घट में प्रकट हो रहा है, लेकिन मनुष्य को वह मनुष्य में ही दृग्गोचर हो सकता है। जब उसका प्रकाश, उसका अस्तित्व, उसका चैतन्य, मानवीय मुखमण्डल पर प्रकट होता है, तब ही मनुष्य उसकी पहिचान कर सकता है। इस तरह मनुष्य, मनुष्य की पूजा द्वारा परमेश्वर की पूजा करता आ रहा और जब तक मनुष्य विद्यमान है वह ऐसा करते ही जावेगा। वह भले ही ऐसी पूजा के विरुद्ध चिल्लावे। भले ही उसके प्रतिकूल प्रयत्न करे, लेकिन ज्योंही वह परमेश्वर प्राप्ति का प्रयत्न करेगा स्वभावतः ही उसे प्रतीत हो जावेगा कि वह मनुष्य के व्यतिरिक्त परमेश्वर का विचार नहीं कर सकता। इसीलिए प्रत्येक धर्म में हम तीन मुख्य बातें देखते हैं जिनके द्वारा परमेश्वर की पूजा की जाती है। वे हैं प्रतिमाएँ या प्रतीक, नाम (स्मरण) और अवतारी पुरुष। प्रत्येक धर्म में ही ये बातें हैं और फिर भी लोग एक दूसरे से लड़ना चाहते हैं। एक कहता है कि अगर दुनिया में कोई प्रतिमा है तो मेरे धर्म की, कोई नाम है तो मेरे धर्म का और कोई अवतारी पुरुष है तो मेरे धर्म का। तुम्हारी सिर्फ़ पौराणिक कथाएँ हैं। इन दिनों खिस्त पादरी कुछः नरम हो गये हैं। वे मानते हैं कि पुराने धर्मों के विभिन्न पूजा प्रकार थे सिर्फ़ खिश्चियन धर्म के पूर्व संसूचक प्रकार मात्र हैं। और उनके मत से खिश्चियन धर्म ही सच्चा धर्म है। पुराने जमाने में ईश्वर ने अपनी शक्तियों के बलाबल का अनुभव किया। अपने

सामर्थ्य द्वारा इन वस्तुओं को उसने रूप दिया और ख्रिश्चियन धर्म निर्माण कर उसकी पूर्णता की। कम से कम यह बहुत बड़ी प्रगति है। पचास वर्ष पूर्व तो वे लोग यह भी कबूल करने को तैयार न थे। उनके धर्म को छोड़ कर और अन्य कुछ भी सत्य न था। यह किसी धर्म की, किसी राष्ट्र की या किसी मनुष्य वर्ग की खासियत नहीं है। लोग हमेशा यही सोचते आये हैं कि जो कुछ वे करते आये हैं वही सच है और लोगों ने भी वैसा ही बरताव करना चाहिये। बस ऐसे ही मौके हैं जहां धर्म का अभ्यास मनुष्य को मदद करता है। इस अध्ययन से यह मालूम हो जाता है कि जिन विचारों को हम अपने विचार कहते हैं वे सैकड़ों वर्ष पूर्व दूसरे लोगों के मनों में विद्यमान थे और वे भी कभी कभी हम प्रकट कर सकते हैं उससे अधिक अच्छे स्वरूप में विद्यमान थे।

ये तो उपासना के सिर्फ़ बहिरांग हैं जिन अंगों में से होकर मनुष्य को गुजरना होता है। लेकिन अगर मनुष्य सच्चा है, अगर वह सत्य को पहुंचना चाहता है तो वह इन बहिरांगों से ऊँचा उठ जावेगा और ऐसी विचारभूमि पर पहुंच जावेगा जहां ये बहिरांग शून्यवत् हैं। **मंदिर और गिरजा, ग्रंथ और तंत्र ये सिर्फ़ धर्म के उपकरण मात्र हैं**—जिन उपकरणों द्वारा अध्यात्मशास्त्र का यह बालक बलवान बनता है और ऊँचा चढ़ सकता है। यदि धर्म में गति होवे ऐसी उसकी इच्छा है तो ये सीढ़ियाँ आवश्यक हैं। ईश्वरप्राप्ति की पिपासा उत्पन्न होने के साथ ही मनुष्य में सच्ची उपासना, सच्ची भक्ति उत्पन्न हो जाती है। लेकिन ऐसी पिपासा है किसे?—यह है वह प्रश्न। धर्म सिद्धान्तों में, अंध विश्वास में और सूत्रों में नहीं है और न वह बुद्धि की चिकित्सकता में ही है। **धर्म से**

मतलव है सत्य का प्रत्यक्ष अनुभव—धर्म है आत्मानुभूति।
हम कितने ऐसे लोगों से मिलते हैं जो परमेश्वर के, आत्मा के और विश्व
के गुप्त रहस्यों के बारे में बातें किया करते हैं। लेकिन एक एक
लेकर अगर तुम उन्हें पूछो कि क्या तुमने परमेश्वर का प्रत्यक्ष दर्शन
(अनुभव) किया है? क्या तुम्हें आत्मानुभव हुआ है? तो ऐसे
कितने निकलेंगे जो जवाब दे सकेंगे 'हां' और फिर भी लोग एक
दूसरे से लड़ते चले आ रहे हैं! एक समय हिन्दुस्थान में अलग
अलग जाति के सदस्य इकट्ठे हुए और आपस में लड़ने लगे। एक
कहता था कि अगर कोई परमेश्वर है तो वह है 'महादेव'। दूसरा
कहता था विष्णु और इस तरह उनके वादविवाद का कोई अन्त न
था। उस राह से एक योगी जा रहा था। विवादकों ने उसे पुकारा
और अपना निर्णय देने को कहा। जो मनुष्य शिव को सब में बड़ा
ईश्वर बतलाता था उससे उसने प्रथम पूछा कि "क्या तुमने शिवजी
को देखा है? क्या तुम उससे परिचित हो? अगर नहीं तो तुम
कैसे कहते हो कि वह सब में बड़ा ईश्वर है?" फिर उसने विष्णुभक्त
को पूछा कि "क्या तुमने विष्णु देखा है?" और इस तरह घूमकर
हरएक को सवाल किया। उसे यही दिखलाई दिया कि उनमें से
किसी को परमेश्वर के विषय में कुछ भी न मालूम था। इसीलिए
वे आपस में इतना लड़ रहे थे। क्योंकि अगर उन्हें सचमुच ही
कुछ मालूम होता तो वे कभी न लड़ते। जब घड़ा पानी से भरता
है तो वह शब्द करता है, लेकिन जब पूरा भर जाता है तो आवाज
निकलनी बंद हो जाती है। इसीलिए जाति जातियों की आपस की
लड़ाई से ही यह बात सिद्ध है कि वे धर्म के बारे में कुछ नहीं जानते।
उनके लिये धर्म तो शब्दजाल मात्र है जो कि ग्रंथों में लिखा होना

चाहिये। हरएक चटपट एक बड़ी पुस्तक लिखने बैठ जाता है। उसे जितनी मोटी हो सके बनाने की कोशिश करता है। जो किताब उसके हाथ लग जावे उसी में से चोरी कर लेता है और फिर कृतज्ञता पूर्वक कबूल भी नहीं करता। इस तरह फिर मौजूदा गड़बड़ अधिक बढ़ाने के लिये उस पुस्तक को ले दुनिया पर अवतीर्ण हो जाता है।

अधिकांश मनुष्य नास्तिकवादी हैं। मुझे इस बात का आनन्द है कि पाश्चिमात्य देशों में एक दूसरे ही प्रकार के नास्तिक वादियों की जाति इन दिनों पैदा हो गई है। मेरे कहने का मतलब है जड़वादी। वे हृदय से नास्तिक हैं। वे धर्म मार्ग के नास्तिक वादियों से अच्छे हैं। ये नास्तिक झूठे हैं, क्योंकि ये धर्म के बारे में लड़ते हैं, बातें बनाते हैं और उसे पाना नहीं चाहते, उसका प्रत्यक्ष अनुभव लेना नहीं चाहते। येशूख्रिस्ट के ये शब्द स्मरण रहे, "तुम माँगो और वह तुम्हें दिया जावेगा; तुम ढूंढो और तुम उसे पाओगे। तुम खटखटाओ और तुम्हारे लिये दरवाजा खुल जावेगा।" ये शब्द अक्षरशः खरे हैं। अलंकारिक या काल्पनिक नहीं हैं। परमेश्वर के एक सब में बड़े पुत्र के हृदय के खून में से वे बह निकले थे—एक ऐसे बड़े पुत्र के हृदय के खून से जो दुनिया में कभी पैदा हो सकता है। वे ऐसे शब्द हैं जो खुद अनुभव करने के बाद निकले हैं। ऐसे मुख से निकले हैं जिसने परमेश्वर का प्रत्यक्ष अनुभव किया है। जिसे उसका प्रत्यक्ष स्पर्श हुआ है। वह ऐसा मनुष्य था जिसने परमेश्वर के साथ वास किया था, उसके साथ बातचीत की थी और वह भी हम इस इमारत को देखते हैं उससे हजार गुना अधिक घनत्व से। सवाल तो यह है कि परमेश्वर चाहता है कौन? क्या तुम ऐसा समझते हो कि दुनिया के ये सब लोग परमेश्वर चाहते हैं और उसे पा नहीं सकते? यह

असम्भव है। ऐसी दुनिया में कौनसी इच्छा है जिसका पूरक बाहर दुनिया में विद्यमान नहीं है। मनुष्य चाहता है कि वह सांस ले और वह देखता है कि उसके सांस लेने के लिये हवा विद्यमान है। मनुष्य खाने की इच्छा करता है और खाने के पदार्थ उसके लिये विद्यमान हो जाते हैं। इच्छाएँ क्योंकर उत्पन्न होती हैं? इसलिए कि उनके पूरक बाहर विद्यमान हैं। प्रकाश विद्यमान था इसलिए आँखों ने जन्म लिया और शब्द विद्यमान था इसलिए उसने कानों को जन्म दिया। इस तरह मनुष्य की प्रत्येक इच्छा किसी न किसी बाह्य विद्यमान वस्तु के कारण ही उत्पन्न हुई है। तो फिर पूर्ण विकास की इच्छा, अन्तिम ध्येय पर पहुंचने की इच्छा, निसर्गातीत बनने की इच्छा ये ही स्वयं आप क्योंकर उत्पन्न हो सकती हैं। ऐसी कोई बाह्य शक्ति होनी ही चाहिए जिसने इन इच्छाओं को मनुष्य के हृदय में बार बार पैदा किया है और उसके हृदय में उनका वास कराया है। इसलिए वह मनुष्य जिसमें ये इच्छाएँ उत्पन्न हुई हैं अवश्य अपने ध्येय को पहुंच जावेगा। हम एक परमेश्वर को छोड़ बाकी सब वस्तुएँ चाहते हैं। तुम अपने आसपास जो कुछ देखते हो वह धर्म नहीं हैं। हमारा गृहस्वामिनी ने अपने घर के दालान में दुनिया की सब वस्तुएँ इकट्ठी कर रखीं हैं और अब ऐसा फैशन चल निकलता है कि जापान की कोई न कोई चीज़ घर में अवश्य रहनी चाहिये। वह जापानी मिट्टी का बर्तन मोल ले आती है और उसे अपने कमरे में रख देती है। यह है बहुजन समाज का धर्म। उपभोग की प्रत्येक वस्तु वह जमा किये है और वह देखता है कि जब तक उसे उस धर्म की सुगंध नहीं लगती जिन्दगी में मजा नहीं आता है। क्योंकि अन्यथा समाज नुक्ताचीनी करेगा। समाज चाहता है कि मनुष्य किसी न किसी धर्म का अनुयायी हो और इसलिए ही मनुष्य कोई

न कोई धर्म चाहता है। दुनिया के धर्मों की आज की हालत यह है।

एक शिष्य अपने गुरु के पास गया और बोला, "महाराज, मैं धर्म सीखना चाहता हूँ।" गुरु ने उस तरुण मनुष्य की ओर देखा, लेकिन चुप रहा। उसने सिर्फ़ मुस्कुरा दिया। वह तरुण प्रतिदिन आता और धर्म जानने का आग्रह करता था। लेकिन वह बूढ़ा उस जवान से अधिक जानकार था। एक दिन जब बहुत धूप पड़ रही थी उसने उस शिष्य से अपने साथ चलने और नदी में डुबकी लेने को कहा। ज्योंही उस तरुण ने डुबकी ली यह बूढ़ा भी चटपट डूब गया और उसने उसे पकड़ कर जबरदस्ती पानी में डुबाये रखा। कुछ क्षण छटपटाने देने के बाद उसने उसे छोड़ दिया। जब वह पानी के बाहर आया तो बूढ़े ने पूछा, "हे तरुण, जब तक पानी के अंदर थे क्या चाहते थे?" तरुण ने जवाब दिया, "एक सांस की हवा।" क्या तुम परमेश्वर को इतनी ही तीव्रता से चाहते हो? अगर तुम चाहते हो तो एक क्षण में पा जाओगे। लेकिन जब तक तुम्हें ऐसी प्यास नहीं लगती तुम अपनी बुद्धि द्वारा चाहे जितनी ही कोशिश करो, या अपनी पुस्तकों और मूर्तियों द्वारा कोशिश करो तुम्हें वह न मिलेगा। जब तक तुममें यह प्यास नहीं पैदा होती तुम नास्तिकवादियों से बिल्कुल अच्छे नहीं हो। अन्तर यह है कि वह हृदय से नास्तिक है और तुम वैसे भी नहीं हो।

एक बड़ा साधु अकसर कहा करता था, "मान लो इस कमरे में चोर घुस गया है और किसी कारण से उसे पता चल गया कि पास वाले कमरे में खूब सा सोना रखा हुआ है। दोनों कमरों को अलग करने वाला पड़दा भी बहुत कमजोर है। ऐसी अवस्था में वह चोर क्या करेगा? उसे नींद न आवेगी। वह खाना या दूसरा कोई काम

करना भूल जावेगा। उसका सारा मन सोना किस तरह हाथ लगे इस में ही लगा रहेगा। क्या तुम ऐसा समझते हो कि लोग पास में ही सुख की खान है, आनन्द की खान है, और वैभव की खान है, ऐसा विश्वास करेंगे और फिर भी ऐसा वर्ताव किये जावेंगे जैसा कि आज वे कर रहे हैं और परमेश्वर प्राप्ति का प्रयत्न न करेंगे? ज्योंही मनुष्य विश्वास करने लगता है कि परमेश्वर विद्यमान है वह उसे पाने के लिये पागल हो जाता है। लोग अपनी राह भले ही जावें लेकिन जब मनुष्य को यह विश्वास हो जाता है कि वह वर्तमान में जैसी जिन्दगी बसर कर रहा है उससे कितनी ही अधिक ऊँची जिन्दगी भी बसर कर सकता है और ज्योंही उसे निश्चय से यह अनुभव होने लगता है कि इन्द्रियाँ ही सर्वस्व नहीं हैं, यह मर्यादित जड़ शरीर उस शाश्वत निरन्तन और अमर आत्मानन्द के सामने कुछ नहीं है तो वह पागल बन जाता है और उस आनन्द को स्वयं ढूंढ निकालता है। यह वह पागलपन है, वह प्यास है, वह उन्माद है जिसका नाम है धर्म विषयक "जागृति"। और जब वह जागृति हो जाती है तो मनुष्य धर्म-प्रवण बनने लगता है। लेकिन यह बात बहुत समय लेती है। सब: प्रकार की ये प्रतीक और विधियाँ, ये प्रार्थनाएँ और ये तीर्थ-यात्राएँ, ये ग्रंथ, ये घंटियाँ, ये मोमबत्तियाँ और ये उपदेशक पूर्वाभ्यास मात्र हैं। इन से मन का मैल दूर हो जाता है और जब जीव शुद्ध हो जाता है तो स्वभावतः ही वह पवित्रता की खान की ओर जाना चाहता है। स्वयं परमेश्वर की ओर जाना चाहता है। शताब्दियों की धूल से सना लोहा जिस तरह लोहचुंबक के पास भले ही पड़ा रहे लेकिन वह लोहचुंबक की ओर नहीं खिंचता, लेकिन जिस तरह उस पर की धूल साफ हो जाने के बाद अब वही लोहा चुंबक की ओर स्वयं खिंचने

लगता है उसी तरह यह जीव युगानुयुग की धूल से, अपवित्रता से, दुष्टता से, पापों से सना हुआ होने के कारण जब अनेक जन्म लेकर इन उपासनाओं और विधियों द्वारा शुद्ध हो जाता है, दूसरों की भलाई करने लगता है दूसरे जीवों पर प्यार करने लगता है तब उस में आत्मिक आकर्षण पैदा हो जाता है, वह जाग उठता है और परमेश्वर की ओर जाने का प्रयत्न करने लगता है।

तिस पर भी ये विधियाँ और ये प्रतीक आरंभ मात्र के लिये उपयुक्त हैं, यह ईश्वर की सच्ची भक्ति नहीं है। हर जगह हम प्यार के बारे में सुनते आये हैं। प्रत्येक कहता है कि ईश्वर से प्यार करो। मनुष्य यह नहीं जानता कि प्यार कैसे किया जाता है अगर वह जानता होता तो इस तरह निरर्गल बात न करता। प्रत्येक मनुष्य कहता है कि उसमें प्यार करने की ताकत है और कुछ ही समय बाद उसे दिखने लगता है कि प्यार करना उसका स्वभाव ही न था। हरएक औरत कहती है कि वह प्यार करती है और जल्द ही उसे पता लग जाता है कि वह प्यार नहीं कर सकती। दुनिया में प्यार सिर्फ बातों में है। लेकिन प्यार करना कठिन है। प्यार है कहां? तुम कैसे जानते हो कि प्यार का अस्तित्व है? प्रेम का पहिला लक्षण यह है कि वह व्यापार नहीं जानता। जब तक एक मनुष्य दूसरे पर इसलिए प्यार करता है कि उससे फायदा उठावे तब तक तुम समझो कि वह प्रेम नहीं है, वह है दुकानदारी। जहां कहीं खरीदने और बेचने का सवाल आया बस वहां प्रेम नहीं है। इसलिए जब मनुष्य ईश्वर से प्रार्थना करता है कि मुझे यह दो और मुझे वह दो तो यह प्रेम नहीं है। यह प्रेम कैसे हो सकता है? मैं तुम्हें प्रार्थना के शब्द दूं और तुम बदले में मुझे कुछ दो। बस यही है उसका स्वरूप—सिर्फ दुकानदारी।

एक बड़ा राजा शिकार को जंगल में गया और उसकी वहां एक साधु से भेट हुई। थोड़ी देर की वातचीत से वह साधु से इतना खुश हुआ कि उसने उससे कहा, "कुछ इनाम स्वीकार करो।" साधु ने जवाव दिया, "नहीं, मैं अपनी इसी हालत में खुश हूँ। ये झाड़ मुझे खाने को फल दे देते हैं। ये साफ जल के सुन्दर चश्मे मेरी पानी की चाह पूरी करते हैं। मैं गुफाओं में सोता हूँ। चाहे तुम शहेनशाह क्यों न हो, मुझे तुम्हारे इनामों की कोई चाह नहीं।" सम्राट बोला, "मुझे पवित्र करने के लिये और मुझे संतोष देने के लिये तुम कुछ भेट स्वीकार करो और मेरे साथ शहर में आवो।" आखिर साधु मान गया और वह वादशाह के साथ महल में पहुंचा जहां सोना, रत्न, संगमरमर और दूसरी आश्चर्यकारक वस्तुएँ रखी हुई थीं। प्रत्येक स्थान में पैसा और हुकूमत दृग्गोचर हो रही थी। वादशाह ने साधु को एक मिनिट ठहरने के लिये कहा। और एक कोने में जाकर प्रार्थना करने लगा, "हे परमेश्वर, मुझे अधिक पैसा, अधिक सन्तान और अधिक देश दे।" इधर साधु उठ खड़ा हुआ और चलने लगा। वादशाह ने देखा कि वह जा रहा है और उसके पीछे जाकर बोला, "महाराज ठहरो। आपने मेरी भेट नहीं स्वीकार की।" साधु मुँह फेरकर बोला, "भिकारी, मैं भिकमंगों से कुछ नहीं माँगता। तुम मुझे क्या दे सकते हो? तुम ही तो खुद माँग रहे थे।" यह प्रेम की भाषा नहीं है। अगर तुमने ईश्वर से कहा मुझे यह दे और वह दे तो फिर तुम्हारे प्यार में और दुकानदारी में क्या अन्तर रहा? प्रेम का पहिला लक्षण यह है कि प्रेम व्यापार नहीं जानता। **प्रेम सदा देते ही आया है, लेते कभी नहीं आया है।** ईश्वर के एक लड़के ने कहा है, "अगर ईश्वर की इच्छा हो तो मेरा सर्वस्व मैं उसे देने को

तैयार हूँ लेकिन इस दुनिया में उससे मैं कुछ नहीं चाहता। मैं उसे इसलिए प्यार करता हूँ कि मैं प्यार करना चाहता हूँ। वह मुझे कुछ दे यह बदले में नहीं माँगता। यह किसे परवाह है कि परमेश्वर सर्व शक्तिमान है या नहीं। मैं उससे किसी प्रकार की ताकत या हुकूमत नहीं चाहता और न उसकी ताकत का आविष्कार ही। मेरे लिये यह काफ़ी है कि वह मेरे प्यार का परमेश्वर है। ज्यादा सवाल मैं नहीं उठाना चाहता।"

प्यार का दूसरा लक्षण यह है कि वह डर नहीं जानता। जब तक मनुष्य परमेश्वर की ऐसी कल्पना करता है कि वह एक हाथ में पारितोषक और दूसरे हाथ में दंड लिये हुए मेघों के बीच बैठी हुई एक व्यक्ति है तब तक वहां प्यार नहीं हो सकता। क्या तुम डरा कर किसी को प्यार करने लगा सकते हो? मेमना क्या शेर से प्यार कर सकता है और चूहा बिल्ली से या नौकर मालिक से? नौकरों ने कभी कभी प्यार पैदा किया है लेकिन क्या वह प्यार है? डर में प्यार तुमने कब और कहां देखा? वह है मजाक। प्यार के साथ डर का विचार भी कभी नहीं आता। एक नौजवान माँ सड़क में खड़ी है ऐसी कल्पना करो। अगर उस पर कोई कुत्ता भोंकता है तो वह पास वाले घर में चटपट दौड़ जाती है। अब ऐसी कल्पना करो कि दूसरे दिन वह बालक को लिये हुए सड़क में खड़ी है और इतने में शेर झपट आता है। उस मौके पर उसकी क्या हालत होती है? बच्चे का संरक्षण करते हुए प्रत्यक्ष शेर के मुँह के सामने वह तुमको दिखलाई देगी। प्यार ने उसका सारा डर जीत लिया। इसी तरह ईश्वर के प्यार के विषय में जानो। किसे यह परवाह है कि ईश्वर दंड देनेवाला है या पारितोषक? प्रेमी के ऐसे विचार ही नहीं होते। एक न्यायाधीश

अपने घर आ रहा है ऐसी कल्पना करो। उसकी औरत उसे किस दृष्टि से देखेगी? न तो न्यायाधीश की दृष्टि से ही और न पारितोषक देने वाला या दंड करने वाला इस दृष्टि से। लेकिन एक पति की दृष्टि से, एक प्यार करने वाले की दृष्टि से। उसके लड़के उसे किस दृष्टि से देखते हैं? उनका प्यार करने वाला पिता इस दृष्टि से न कि दंड करने वाला या पारितोषक देने वाला इस दृष्टि से। वैसे ही परमेश्वर के सुपुत्र उसको दंड देने वाला या पारितोषक देने वाला इस दृष्टि से कभी नहीं देखते। जिन्होंने कभी प्यार का मजा नहीं लिया है ऐसे ही लोग डरते और कांपते हैं। सब डर निकाल डालो। परमेश्वर दंड करने वाला है या इनाम देने वाला है ये भीषण कल्पनाएँ मनुष्य की जंगली अवस्था में हि उसे उपयुक्त होती हैं। कुछ मनुष्य खुब बुद्धिप्रधान होने पर भी अध्यात्म दृष्टि से जंगली होते हैं। ऐसे मनुष्यों के लिये ये कल्पानाएँ उन्हें मदद देने वाली हैं। लेकिन वे मनुष्य जो अध्यात्म प्रधान हैं, वे मनुष्य जिनकी धर्म की ओर गति हो रही है, वे जिनमें आध्यात्मिक दृष्टि का विकास हो गया है, इन कल्पनाओं को बालकपन समझते हैं— निरी मूर्खता समझते हैं। ऐसे मनुष्य डर की कल्पना भी निकाल डालते हैं।

तीसरा लक्षण इससे भी कठिनतर परीक्षा है। प्रेम सदा ही उन्नततम आदर्श रह आया है। जब मनुष्य पहिली दो अवस्थाएँ पार कर लेता है, जब वह दुकानदारी छोड़ देता है और डर निकाल डालता है, तब उसकी समझ में आने लगता है कि प्रेम उन्नततम आदर्श है। एक सुंदर स्त्री ने एक भद्दे पुरुष पर प्यार किया है, तथा एक मन मोहक पुरुष ने भद्दी औरत पर प्यार किया है। क्या ऐसा इस दुनिया में कितनी ही बार नहीं हुआ है? यह आकर्षण क्यों? देखने वालों

को वह सिर्फ़ भद्दा मनुष्य या भद्दी स्त्री ही दिखलाई देती है लेकिन प्रेमी को नहीं। प्रेमी को अपनी प्रेयसी विद्यमान जीव में सुंदरतम ही दिखाई देती है। ऐसा क्यों? वह सुंदरी जो एक भद्दे मनुष्य पर प्यार करती है अपने मन में विद्यमान अपनी सौंदर्य विषयक कल्पना उस भद्दे मनुष्य पर बढ़ाकर डाल सी देती है और वह जो पूजती है वह उस भद्दे मनुष्य को नहीं बल्कि अपने प्रेम के आदर्श को। वह मनुष्य सिर्फ़ स्फूर्ति-दाता है और वह उस स्फूर्ति पर अपना आदर्श डालकर ढँक लेती है। इस तरह वह आदर्श उसकी पूजा का विषय बन जाता है। यह सत्य प्रेम के प्रत्येक विषय में लागू है। हममें से बहुतों के बहिन भाई बिल्कुल ही साधारण होते हैं। लेकिन वे भाई हैं या बहिनें हैं यह कल्पना ही उन्हें सुंदर बना देती है।

'प्रत्येक मनुष्य अपनी आदर्श की कल्पना दूसरे पर बढ़ाकर फिर उसे वह पूजता है,' यही तत्वज्ञान इसकी पार्श्वभूमि में है। यह बाह्य जगत सिर्फ़ स्फूर्ति देनेवाला जगत है। जो कुछ हम देखते हैं वह हमारे मन की उस पर लगी हुई छाप है। घोंगी में रेत का साफ़ धुला हुआ एक कण घुस जाता है और संचालन शुरू कर देता है। उस संचालन से घोंगी द्रवने लगती है और वह रेत का कण उस द्रव पदार्थ से बिल्कुल ढँक जाता है और मोती बन जाता है। उसी तरह बाह्य वस्तुओं से सिर्फ़ हमें स्फूर्ति मिलती है और हमारे मानसिक आदर्शों को बढ़ाकर अपनी दृश्य वस्तुओं को हम बनाते हैं। दुष्ट मनुष्य इस दुनिया को पूरी तौर से नरक देखता है तो अच्छे मनुष्य को वही दुनिया पूरे तौर से स्वर्ग प्रतीत होती है। प्रेमियों के लिये दुनिया प्रेम से भरी है और द्वेषकों के लिये द्वेष से। झगड़ने वाले सिर्फ़ लड़ाई ही देखते हैं और शान्त, शान्तता को। इसी तरह पूर्ण विकसित मनुष्य

परमेश्वर को ही देखते हैं अन्य किसी को नहीं; सदा हम अपने उन्नततम आदर्श ही की पूजा किया करते हैं। और जब हम उस अवस्था को पहुंच जाते हैं, जब हम प्रेम ही प्रेम का आदर्श समझकर उस पर प्यार करते हैं तब सब वाद खतम हो जाता है और संशय गायब हो जाते हैं। यह किसे परवाह होती है कि परमेश्वर इन्द्रियों द्वारा प्रत्यक्ष किया जा सकता है या नहीं ? वह आदर्श तो मुझ में से कभी बाहर हो नहीं जा सकता। क्योंकि वह मेरी सत्ता का एक अंश है। जब मुझे खुद के अस्तित्व में संशय आवेगा तब मैं अपने आदर्श में शंका करूंगा और जिस तरह मुझे पहिले विधान में शंका नहीं आती उस तरह दूसरे में भी नहीं आ सकती। यह किसे परवाह है कि परमेश्वर सर्व शक्तिमान और सदा दयालु हो सकता है या नहीं ? यह किसे चिन्ता है कि वह मानव समाज को पारितोषक देगा या उसे एक जल्लाद की नजर से देखेगा अथवा एक कल्याण करने वाले बादशाह की नजर से ? प्रेमी तो इन सब कल्पनाओं से अतीत हो चुका है। वह पारितोषक और दंड से अतीत हो गया है, वह शंका से और डर से अतीत हो गया है। वह प्रयोगशाला के इन्द्रियगम्य प्रत्यक्ष दर्शन से अतीत हो गया है। उसमें प्रेम का आदर्श ही काफी भरा है। क्या यह पर्याप्त साक्ष नहीं है कि यह विश्व प्रेम का दर्शन मात्र है ? अणु का अणु से कौन संयोग कराता है और परमाणु परमाणुओं से कैसे जुड़ जाते हैं ? ग्रह मालिकाओं को एक दूसरे की ओर दौड़ने कौन लगाता है ? वह क्या है जिससे मनुष्य मनुष्य की ओर खिंचता है और मनुष्य औरत की ओर, औरत मनुष्य की ओर, जीव जीव की ओर और सम्पूर्ण विश्व जैसे उसके केन्द्र की ओर ? जिसे हम प्रेम कहते हैं वह यह है। छोटे से छोटे अणु से लेकर

उन्नततम जीव में यह प्रकट हो रहा है। यह प्रेम ही सर्व शक्तिमान है और सर्वव्यापी है। जीव सृष्टि और निर्जीव सृष्टि में, सार्वजनिक और विशिष्ट विश्व में जो आकर्षण स्वरूप में प्रकट हो रहा है वह है परमेश्वर का प्यार। विश्व को गति देनेवाली अगर कोई शक्ति है तो वह। इसी प्रेम की प्रेरणा से क्राइस्ट मनुष्य जाति के लिये जान देता है, बुद्ध जानवरों के भी लिये, माँ बच्चे के लिये और पति पत्नी के लिये। इसी प्रेम की चेतना के कारण मनुष्य अपने देश के लिये प्राण अर्पण करने को तैयार होते हैं। कहने के लिये भले ही अजब हो लेकिन इसी प्रेम की चेतना से चोर चोरी करता है और खूनी खून! इन उदाहरणों में भी वही तत्त्व है; सिर्फ़ आविष्कार मात्र भिन्न है। यह अकेली ही विश्व को चैतन्य देने वाली शक्ति है। चोर को सुवर्ण पर प्यार होता है। प्यार मौजूद है; किन्तु अन्तर यही कि वह कुमार्ग से चलाया गया है। इसी तरह सब सद्गुणों में और सब दुर्गुणों में यह शाश्वत प्रेम सदा विद्यमान है। कल्पना करो कि न्यूयॉर्क के गरीबों के लिये १००० डॉलर का दानपत्र एक मनुष्य लिखता है और उसी समय और उसी कमरे में दूसरा एक मनुष्य अपने मित्र के जाली दस्तखत तैयार करता है। वह उजेला जिस में दोनों लिख रहे थे एक ही है। लेकिन उसके उपयोग के अनुसार प्रत्येक अपने काम के लिये जवाबदार होगा। उजेले को न तो प्रशंसा ही है और न दोष! ईश्वर विषयक प्रेम सम्पर्कशून्य होने पर भी प्रत्येक वस्तु में चमकने वाला है। विश्व को अगर कोई ऐसी संचालक शक्ति है जिसके अभाव में इस दुनिया के एक क्षण में टुकड़े टुकड़े हो जावेंगे तो वह है यह प्यार और यह प्यार ही परमेश्वर है।

"ए प्रियतम, यदि कोई पति से प्यार करती हो, तो पति के लिये

नहीं, लेकिन पति में विद्यमान आत्मा के लिये। ए प्रियतम, ऐसे किसी पुरुष का अस्तित्व नहीं था जिसने औरत को औरत इसी हैसियत से प्यार किया हो, बल्कि पत्नी में विद्यमान आत्मा की हैसियत से। किसी व्यक्ति ने कभी भी किसी वस्तु का प्यार आत्मा के लिये छोड़ अन्य किसी वस्तु के लिये नहीं किया है।" इतनी दूषित की गई यह स्वार्थी वृत्ति भी उसी प्यार का आविष्कार है। इस खेल से जरा दूर जाकर खड़े रहो। जरा उसमें भाग न लो। और इस विचित्र दर्शन को देखते रहो। देखो, एक के बाद एक होनेवाले. प्रवेशों द्वारा यह आश्चर्यमय नाटक किस तरह खेला जा रहा है और जरा उसके आश्चर्यमय संगीत को सुनो। यह सब उसी प्रेम का प्रत्यक्ष दर्शन है। स्वार्थी-वृत्ति में भी वह अस्तित्व बढ़ता ही बढ़ता जावेगा और दुगना चौगना बढ़ेगा। एक आत्मा (मनुष्य) शादी होने पर दुगना बनेगा और बच्चे होने पर कई गुना। इस तरह वह बढ़ता जाता है जब तक कि वह सम्पूर्ण विश्व को न छू ले, सम्पूर्ण विश्व को स्वयं अपनी आत्मा ही न समझ ले। यह आत्मस्वरूप में विश्व के सम्पूर्ण प्रेम का अर्थात् अमर्याद प्रेम का विस्तार करता है—ऐसे प्रेम का जोकि स्वयं परमेश्वर है।

इस तरह जिसे हम परमभक्ति कहते हैं वहां तक आये—वह परमभक्ति, जहां प्रतीकें और रेखाकृतियाँ गायब हो जाती हैं। जो इस परमभक्ति को पहुंच जाता है वह किसी जाति का नहीं रह सकता क्योंकि सब जातियाँ उसमें ही विद्यमान हैं। वह किस पंथ का हो सकता है? क्योंकि सब मंदिर और गिरजाघर तो उसमें ही विद्यमान हैं। ऐसा कौनसा गिरजा है जो इस के लिये काफी हो सकता है? ऐसा मनुष्य अपने खुद को कोई खास विधियों द्वारा बाँध नहीं सकता। जिस प्रेम के द्वारा वह एक स्वरूप बन गया है उस अमर्याद प्रेम की

कहां मर्यादा लगाई जा सकती है ? जिन जिन धर्मों ने इस आदर्श-भक्ति को अपनाया है उन्होंने उसे प्रत्यक्ष प्रकट करने का कसकर प्रयत्न किया है, यही हम देखते हैं। यद्यपि यह प्रेम क्या चीज है यह हम समझते हैं और यद्यपि इस दुनिया में विद्यमान प्रत्येक व्यक्ति का प्रेम और प्रत्येक वस्तु का आकर्षण या उस अमर्याद प्रेम का प्रत्यक्ष दर्शन है, यानी विभिन्न राष्ट्रों के साधु संतों ने जिस प्रेम का आविष्कार करने का प्रयत्न किया है उसी प्रेम का यह सब प्रत्यक्ष दर्शन है। तोभी हम यहाँ देखते हैं कि वे अपना सम्पूर्ण भाषा सामर्थ्य पाशविकतम प्यार के आविष्कार को स्वर्गीयतम बनाने में ही लगाये हुए हैं।

एक हिन्दू राजयोगी ने हिन्दुस्थान के बारे में इस तरह गाया है, "ए प्यारे, तेरे ओठों का एक प्यार मुझे दे—तेरे प्यार करने पर तेरे सम्बन्ध की हमारी आसक्ति और पिपासा बढ़ती ही जाती है। सारे दुःख खतम हो जाते हैं। मनुष्य भूत वर्तमान और भविष्य भूल जाता है और अकेले तुझे ही सोचता है।" जब प्रेमी की सब वासनाएँ नष्ट हो जाती हैं तो उसका मस्तानापन इस स्वरूप का होता है, कौन मुक्ति की परवाह करता है ? किसे छुटकारा पाने की चिन्ता है ? कौन पूर्ण विकसित बनना चाहता है ? और किसे स्वातन्त्र्य की परवाह है ? 'प्रेमी' इस तरह गाता है:—

"न तो मैं दौलत ही चाहता हूँ और न तन्दुरुस्ती। न मैं सौन्दर्य ही चाहता हूँ और न बुद्धि। दुनिया में जो दुःख विद्यमान हैं उनमें मुझे बारबार जन्म लेने दो, लेकिन मैं कभी शिकायत न करूंगा। बस मुझे तुझ से प्यार करने देना चाहिए, प्यार के लिए प्यार करने

देना चाहिए।" इन गीतों में जो प्रेम का मस्तानापन प्रकट हो रहा है वह यह है। अगर उच्चतम, स्पष्टतम, बलिष्ठतम और मन मोहन ऐसा किसी का प्यार हो सकता है, तो वह है स्त्री का पुरुप से और पुरुप का स्त्री से। इसीलिए गहनतम प्रेम के आविष्कार में ऐसी भाषा का उपयोग किया गया। मानवीय प्रेम का यह उन्माद साधुओं के प्रेममय मस्तानापन की एक अस्पष्ट प्रतिध्वनि मात्र है। ईश्वर के सच्चे भक्त प्यार से पागल बन जाना चाहते हैं। ईश्वर के प्रेम में झूमते हुए ईश्वर से उन्मादित मानव बन जाना चाहते हैं। प्रत्येक धर्म के साधु संतों से बनाई हुई प्रेम की प्याली वह पी जाना चाहते है अर्थात् उन साधुओं की प्रेम प्याली जिनने अपने हृदय का खून ही स्वयं उसमें भर दिया है, वह प्याली। जिसमें अनासक्त बुद्धि से ईश्वर की भक्ति करने वालों की ओर प्यार के लिये ही प्यार करने वालों की पवित्र आशाएँ भर दी गई हैं। यही एक मात्र वस्तु है जो *सम्पूर्ण दुःखों का अन्त कर देती है और जिसे पीने से भव रोग नष्ट* हो जाता है। मनुष्य में स्वर्गीय मस्तानापन आ जाता है और वह यह भी भूल जाता है कि मैं मनुष्य हूँ।

अन्त में हम यह देखते हैं ये अनेक धर्म उसी एक लक्ष्य की ओर झुकते हैं यानी उस पूर्ण संयोग की ओर। प्रथम सदा हमारा आरम्भ द्वैत में होता है। ईश्वर एक व्यक्ति और मैं अन्य। फिर प्रेम उत्पन्न होता है और मनुष्य ईश्वर की ओर जाने लगता है या ऐसा कहिये कि ईश्वर ही मनुष्य की ओर आने लगता है। पितृभाव, मातृभाव, मित्रभाव, बल्लभभाव, इत्यादि जीवन के अनेक भाव मनुष्य एक एक कर तब तक स्वीकारता जाता है जब तक कि वह अपने पूजा

के लक्ष्य से एकरूप नहीं बन जाता। तू ही मैं, मैं ही तू। तुझे पूजकर मैं अपनी पूजा करता हूँ और अपने को पूजकर तेरी। यह है मनुष्य के उस प्रेम की पराकाष्ठा जिसे ले उसने अपना आरम्भ किया था। आरम्भ में मनुष्य आत्मा पर प्रेम करने लगा। लेकिन आत्मा के अधिकार मात्रा के कारण वह प्रेम स्वार्थी बन गया। अन्त में जब आत्मा उस अनन्त से तदाकार बन गयी तो प्रकाश की पूर्ण दीप्ति प्रकट हो गई। आरम्भ में जो स्थान और अवकाश से मर्यादित था वह ईश्वर अब अनन्त में विलीन सा हो गया। स्वयं मनुष्य ही का काया पलट हो गया। वह ईश्वर को नज़दीक कर रहा था, उसमें भरे हुए अभिमान के भावों को हटा रहा था लेकिन इच्छाओं का लोप होते ही सारी स्वार्थ बुद्धि गायब हो गई और शिरोवर्ती भाव यह दिखलाई दिया कि प्रेम, प्रेमी और प्रिय वस्तु ये एक हैं।

कर्म तथा उसका रहस्य

कर्म-योग

(लॉस एन्जल्स में दिया हुआ भाषण, कॅलिफोर्निया,
ता. ४-१-१९००)

अपने जीवन म जो मैंने एक श्रेष्ठतम पाठ पढ़ा वह यह है कि किसी भी कार्य के साधनों के विषय में उतना ही सावधान रहना जितना कि लक्ष्य के विषय में। जिससे मैंने यह बात सीखी वह एक बड़ा महात्मा था। इस बड़े तत्व का वह स्वयं ही प्रत्यक्ष आविष्कार था। इस एक तत्व से सदा मैंने बड़े बड़े पाठ सीखे हैं और मेरा यह मत है कि सब प्रकार के यशों की कुंजी इस तत्व में है। यानी साधनों की ओर भी उतना ही ध्यान देना चाहिए जितना लक्ष्य की ओर।

जीवन में हमारा बड़ा दोष यह है कि हम ध्येय से ही बिल्कुल खिंचे रहते हैं। हमारे लिये ध्येय इतना अधिक आकर्षक होता है, ऐसा मोहक होता है, और हमारे मनोमंडल में इतना व्यापक होता है कि छोटी बातें हमारी नजर से ही निकल जाती हैं।

लेकिन जब कभी हमें अपयश आता है और उसकी छानबीन करते हैं तो नब्बे फी सदी हम यही पाते हैं कि हमने साधनों की ओर ध्यान न दिया था। जो आवश्यकता है वह यह कि हम साधनों को मजबूत बनाने और उन्हें पूर्णता की ओर पहुंचाने में अधिक ध्यान दें। अगर हमारे साधन निर्दोष हैं तो फल मिलना ही चाहिए। हम यह

भूल जाते हैं कि कार्यभाव कारणभाव से ही जन्म लेता है, वह खुद ब खुद नहीं पैदा हो सकता। और जब तक कारणभाव निर्दोष, योग्य, सामर्थ्यपूर्ण न होंगे फल पैदा न होगा। एक बार हमने ध्येय निश्चित कर लिया और उसके साधन पक्के कर लिये कि हम ध्येय को करीब करीब छोड़ दे सकते हैं। क्योंकि हमें यह पूरा मालूम है कि अगर साधन निर्दोष है तो वह (साध्य) वहीं न जावेगा। जब कारणभाव विद्यमान हैं तो कार्य को स्वयं ही उपस्थित होना पड़ेगा। उसके बारे में विशेष चिन्ता की कोई आवश्यकता नहीं। अगर कारणभावों के विषय में हम सावधान रहें तो कार्यभाव स्वयं ही सतर्क हो जावेंगे। साध्य की सिद्धि यह तो कार्यभाव मात्र है। कारणभाव है साधन। इसलिए कारणभावों की ओर ध्यान देते रहना यह जीवन का एक बड़ा रहस्य है। गीता में भी हमने यही पढ़ा है और अध्ययन किया है कि हमें लगातार और अपनी भर ताकत काम करते ही जाना चाहिए, काम चाहे कोई भी हो अपना पूरा मन उस ओर लगा देना चाहिए। साथ ही फल की आसक्ति हमें न होनी चाहिए। अन्य शब्दों में उस कार्य को छोड़कर अन्य किसी वस्तु ने हमें खींच न लेना चाहिए। दुःख का बृहत्तम कारण यह है कि हम कोई बात हाथ में लेते हैं और अपनी पूरी ताकत उस ओर लगा देते हैं। शायद है वह बात असम्भव होती है और फिर भी हम उसका त्याग नहीं कर सकते। हम जानते हैं कि हमें तकलीफ़ हो रही है और उसमें चिपके रहने से दुःख ही सिर्फ़ हाथ आवेगा फिर भी हम अपना छुटकारा उससे नहीं कर सकते। मधु-मक्खी तो शहद चाटने आई थी और उसके पैर चिपक गये उस मधुचषक को। अब वह छुटकारा नहीं पा सकती। बार बार हम यही स्थिति अनुभव करते हैं। हम यहां क्योंकर आये, इसका और जीवन

का सम्पूर्ण रहस्य यही है। हम यहां आये थे मधुलिहा को और हमारे हाथ पांव उसमें फँस गये। आये थे उपभोग के लिये और खुद ही उपभोग बन बैठे। आये थे हुकूमत चलाने और हम पर ही हुकूमत चल गई। आये थे कुछ काम करने और देखते हैं कि हमसे ही काम लिया जा रहा है। हरघड़ी यही अनुभव आता है। जिन्दगी की हर छोटी छोटी बातों में भी अनुभव आ रहा है। दूसरों के मन हम पर हुकूमत चलाये जा रहे हैं और हम यही कोशिश कर रहे हैं कि हमारी हुकूमत दूसरों के मनों पर चले। हम चाहते हैं कि जीवन के भोग भोगें और वे भोग भक्षण कर जाते हैं हमारे मर्म स्थान। हम चाहते हैं कि निसर्ग का पूरा फायदा उठावें और अन्त में यही देखते हैं कि निसर्ग ने हमारा सर्वस्व हरण कर लिया है, हम पूरी तौर से चूस लिये गये हैं और अलग फेंक दिये गये हैं।

अगर ऐसा न होता तो जीवन हराभरा रहता। चिन्ता मत करो। यद्यपि यश आता और अपयश भी, यद्यपि यहां आनन्द है और दुःख भी तौभी अगर हम बद्ध न हों तो जीवन लगातार हराभरा हो सकता है।

दुःख का एक कारण यह है हम आसक्त हैं। हम बद्ध होते जा रहे हैं। इसीलिए गीता में कहा है, " काम करते रहो लेकिन उनमें आसक्त मत होवो।" " असक्तं कुरु कर्म त्वम्।" बद्ध मत बनो। प्रत्येक वस्तु से अपने आपको स्वतंत्र बना लेने की अपनी शक्ति जमा किये रहो। वह वस्तु तुम्हें बहुत प्यारी भले ही हो, तुम्हारा जीव उसके लिये चाहे जितना ही लालायित हो, उसके त्यागने में तुम्हें चाहे जितना कष्ट उठाना पड़े, फिर भी अपनी इच्छानुसार त्याग करने की अपनी शक्ति मत खो बैठो। कमजोर न तो इस दुनिया के

जीवन के योग्य है और न अन्य किसी जीवन के। कमजोरी से मनुष्य गुलाम बनता है। कमजोरी के कारण ही मनुष्य पर सब प्रकार के शारीरिक और मानसिक दुःख आते हैं। कमजोरी यानी मृत्यु। सैकड़ों और हजारों कीटाणु आज हमारे आस पास हैं, लेकिन जब तक हम स्वयं कमजोर नहीं हो जाते, जब तक हमारा शरीर उनके स्वागत के अनुकूल नहीं बन जाता तब तक वे हमें कोई नुकसान नहीं पहुंचा सकते। ऐसे करोड़ों दुःख रूपी कीटाणु हमारे आस पास क्यों ही न घूमते रहें। कुछ चिन्ता न करो। उनकी हिम्मत नहीं कि वे हमारे नजदीक आवें। उनमें ताकत नहीं कि वे हम पर हमला करें अगर हमारा मन कमजोर न हो। यह एक बड़ा सत्य है। **बलशालित्व ही जीवन है और कमजोरी है मरण।** बलशालित्व ही अपार सौख्य है। वही चिरंतन और शाश्वत जीवन है। कमजोरी यही मृत्यु है।

आसक्ति ही सब सुखों की जननी है। हम अपने मित्रों में और रिश्तेदारों में आसक्त होते हैं। हम बौद्धिक और आध्यात्मिक कार्यों में आसक्त रहते हैं। हम बाह्य वस्तुओं में आसक्त हैं इसलिए कि उनसे हमें सुख मिले। इस आसक्ति के व्यतिरिक्त अन्य किस कारण से हम पर दुःख आता है। आनन्द प्राप्त करने के लिये हमें इनसे स्वतंत्र होना चाहिए। अगर स्वेच्छानुसार इन वस्तुओं से स्वतंत्र होने की हममें ताकत हो तो हमें दुःख न होगा। वही मनुष्य निसर्ग का सम्पूर्ण फायदा उठा सकेगा जो वस्तुओं में अपनी पूरी ताकत से आसक्त होने के बाद स्वेच्छानुसार उनसे विभक्त हो सके। कठिनता यह है कि **मनुष्य में विभक्त होने का भी उतना ही सामर्थ्य होना चाहिए जितना आसक्त बनने का।** दुनिया में

ऐसे मनुष्य हैं जो किसी वस्तु से कभी आकर्षित नहीं हुए। उन्होंने कभी प्यार नहीं किया। वे कठोर और प्रतिकूल वृत्ति के होते हैं। ऐसे लोग दुनिया के अनेक दुःखों से छुटकारा पा जाते हैं। लेकिन दीवाल कभी कोई दुःख अनुभव नहीं करती। दीवाल कभी प्यार नहीं करती और न उसे दुःख ही होता है। दीवाल अन्त में दीवाल ही है। दीवाल बनने से तो आसक्त होना और बँध जाना निश्चय से अच्छा है। इसलिए जो मनुष्य कभी प्यार नहीं करता, जो कठोर और पाषाण हृदयी है और इसी कारण जीवन के अनेक दुःखों से छुटकारा पा जाता है, वह जीवन के अनेक सुखों से भी हाथ धो बैठता है। यह हम नहीं चाहते। यह कमजोरी है। यह मृत्यु है। जो कभी दुःख नहीं अनुभव करता, जो कभी कमजोरी नहीं मालूम करता वह जागृत नहीं है। वह निस्संज्ञावस्था है। हम यह नहीं चाहते।

लेकिन साथ ही साथ हम सिर्फ़ यही नहीं चाहते कि यह प्रेम की, यह आसक्ति की महान शक्ति हममें आ जावे, एक ही वस्तु पर हमारी सारी लगन लगाने की ताक़त हममें आ जावे, उसी के लिये हम अपना सर्वस्व खो बैठे और अन्य जीवों से विभक्त हो जावें—जो देवताओं का गुण है; लेकिन हम देवताओं से भी उच्चतर होना चाहते हैं। पूर्ण विकसित मनुष्य अपनी सम्पूर्ण लगन प्रेम की वस्तु पर लगा सकता है और फिर भी अनासक्त रह सकता है। यह कैसे सम्भव हो सकता है? एक दूसरा भी रहस्य है जो सीखना चाहिए।

भिखारी कभी सुखी नहीं होता। उसे सिर्फ़ दान मिलता है और वह भी दया और तिरस्कार से युक्त। कम से कम पार्श्वभूमि में यह तो कल्पना अवश्य ही होती है कि भिखारी नीच होता है। जो कुछ वह पाता है उसका सचमुच उसे उपभोग नहीं मिलता।

हम सब भिखारी हैं। जो कुछ हम करते हैं उसके बदले में हम फ़ायदा चाहते हैं। हम लोग हैं व्यापारी। हम जीवन के व्यापारी हैं, गुणों के व्यापारी हैं, धर्म के व्यापारी हैं। अफसोस! हम प्यार के भी व्यापारी हैं।

अगर तुम व्यापार करने निकलो तो वह सवाल है लेन-देन का, बेचने और मोल लेने का, खरीदी और बिक्री के कानून पालने का। कभी समय अच्छा होता है और कभी बुरा। भाव में चढ़ाव उतार होता रहता है और कब चोट आ लगे यही तुम सोचते रहते हो। व्यापार यह आइने में देखने के समान है। तुम्हारा प्रतिबिम्ब उसमें पड़ता है। तुम मुँह बनाओ और आइने में मुँह बन जाता है। तुम हँसो और आइना हँसने लगता है। यह है खरीदी और बिक्री लेन और देन।

हम फँस जाते हैं। कैसे? इसलिए नहीं कि हम क्या देते हैं बल्कि इसलिए कि हम क्या अपेक्षा करते हैं। **हमारे प्यार का बदला हमें मिलता है दुःख। इसलिए नहीं कि हम प्यार करते हैं बल्कि इसलिए कि हम प्यार का बदला चाहते हैं।** जहां चाह नहीं है वहां दुःख भी नहीं है। कामना, इच्छा, यही दुःखों की जननी है। इच्छाएँ यशापयश के नियमों से बद्ध हैं। इच्छाओं का परिणाम दुःख होना ही चाहिए।

सच्चे सुख और यश का यही बड़ा रहस्य है। वह मनुष्य जो बदले में कुछ नहीं चाहता, जो बिल्कुल निःस्वार्थी है वही पूर्ण यशी है। यह विरोधाभास सा प्रतीत होता है। क्या हम यह नहीं जानते कि जो निःस्वार्थी हैं वे इस जीवन में ठगाये जाते हैं, और उन्हें तकलीफ़ भी दी जाती है? ऊपरी तौर से देखो तो यह सच है। क्राइस्ट निःस्वार्थी था

और वह सूली पर चढ़ाया गया। सच है, लेकिन हम जानते हैं कि उसके निःस्वार्थ होने ही से उसे बड़ा यश मिला। लाखों और करोड़ों जीवों को सच्चे यश का आशिर्वाद मिला।

किसी वस्तु के लिये प्रार्थना मत करो। कोई वस्तु बदले में मत माँगो। तुम्हारे पास जो कुछ देने का हो दे दो। वह तुम्हें वापस मिल जावेगा लेकिन उसका आज ही विचार मत करो। तुम्हें वह हजार गुना वापस मिलेगा, लेकिन तुम अपनी दृष्टि उधर मत रखो। देने की ताकत पैदा करो। दे दो और बस काम खतम हो गया। यह बात सीखो कि सम्पूर्ण जीवन दानस्वरूप है। प्रकृति तुम्हें देने के लिये मजबूत करेगी। इसलिए प्रसन्नतापूर्वक दो, एक न एक दिन तुम्हें दे देना ही पड़ेगा। जिन्दगी में जोड़ने के लिये आते हो। मुट्ठी बाँधकर आये हुए तुम चाहते हो लेना। लेकिन प्रकृति तुम्हारा गला दबाती है और तुम्हें मुट्ठी खोलने को मजबूर करती है। तुम्हारी इच्छा हो या न हो तुम्हें देना ही पड़ेगा। जिस क्षण ही तुम कहते हो कि 'मैं न दूंगा' घूसा पड़ जाता है। और तुम चोट खा जाते हो। दुनिया में आये हुए प्रत्येक को अन्त में अपना सर्वस्व दे देना होगा और इस नियम के विरुद्ध बर्तने की मनुष्य जितनी अधिक कोशिश करता है उतना ही अधिक वह दुःखी होता है। हम इसीलिए दुःखी हैं कि हममें देने की हिम्मत नहीं है। इसलिए कि प्रकृति की यह माँग पूरी करने का हम में स्वार्थत्याग नहीं है। जंगल साफ हो जाता है, लेकिन बदले में हमें उष्णता मिलती है। सूर्य समुद्र से पानी लेता है इसलिए कि वह वर्षा करे। तुम लेन देन के यंत्र मात्र हो। तुम इसलिए लेते हो कि तुम दो। इसलिए बदले में कुछ भी मत माँगो। तुम जितना ही अधिक दोगे उतना ही अधिक तुम्हें वापस मिलेगा।

जितनी ही जल्दी इस कमरे की हवा तुम खाली करोगे उतनी ही जल्दी वह भर आवेगी लेकिन अगर तुम सब दरवाजे खिड़कियाँ बंद कर दोगे तो बाहरी हवा कभी अन्दर न आवेगी और अन्दर की हवा दूषित, गंदी और विषैली बन जावेगी। नदी अपने आप को लगातार खाली किये जा रही है और वह लगातार भरती आ रही है। समुद्र की ओर गमन बंद मत करो। जिस क्षण तुम ऐसा करते हो मृत्यु तुम्हें आ दबाती है।

इसलिए भिखारी मत बनो। अनासक्त रहो। जीवन का यही भीषणतम कार्य है। राह पर खड़े तुम आपत्तियों का हिसाब नहीं लगाते। कल्पनाशक्ति द्वारा आपत्तियों का चित्र खड़ा करने से तुम्हें उनका सच्चा ज्ञान नहीं होता जब तक कि तुम अनुभव न करो। दूर से बगीचे का विहंगम दृश्य दिख सकता है लेकिन इससे क्या? उसका सच्चा ज्ञान और अनुभव अन्दर जाने पर हमें होता है। अगर हमें प्रत्येक कार्य में अपयश आवे, हमारे टुकड़े टुकड़े हो जावें और खून बहने लगे फिर भी हमें अपना हृदय थांभ रखना होगा। इन आपत्तियों में ही हमारा ईश्वरत्व हमें चलाना होगा। प्रकृति चाहती है कि घूंसे के लिये घूंसा, झूठ के लिये झूठ, और चोट के लिये भरसक चोट लगावें। और वह स्वर्गातीत शक्ति भी चाहती है ताकि हम बदले में आघात न करें, तौल सम्हाले रहें और आसक्त न हों।

अनासक्त बनने का अपना निश्चय हम प्रतिदिन दुहराते हैं। आसक्ति के और प्रेम के विषयों की ओर पीठ पीछे नजर कर देखते जाते हैं। प्रत्येक वस्तु ने हमें कैसे दुःखी बनाया यह हमें अनुभव होता है। हमारे प्यार के कारण हमें शोक सागर की तली तक जाना पड़ता है। हमने देखा कि हम सिर्फ दूसरों के गुलाम ही रहते आये

और नीचे ही नीचे खिंचते गये। हम फिर से नया इरादा करते हैं। 'आज से मैं खुद पर अपनी हुकूमत चलाऊंगा, मैं अपना स्वामी बनूंगा।' लेकिन वक्त आता है और फिरसे पहिली कहानी। आत्मा फिर बँध जाती है और मुक्त नहीं हो सकती। पत्ती जाल में फँस जाता है, छटपटाता है, फड़फड़ाता है। यह है हमारा जीवन।

मुझे आपत्तियों का ज्ञान है और वे भयानक हैं। नब्बे प्रतिशत निराश हो धैर्य खो बैठते हैं। या यह कहिए कि निराशावादी बन जाते हैं अर्थात् प्रेम और सच्चाई में विश्वास करना छोड़ देते हैं। जो कुछ उदार और गंभीर हैं उस में भी विश्वास नहीं करते। इसी तरह हम यह भी देखते हैं कि जो मनुष्य आयुष्य के आरम्भ में क्षमाशील, दयालु, सरल और निष्पाप थे बुढ़ापे में झूठे और पाखण्डी बन जाते हैं। उनका मन चालाकियों का गोला बन जाता है। हो सकता है कि इसमें अधिकांश बतौर चाल के हो। वे गरम मिज़ाज के न हो, लेकिन वे बोलते नहीं हैं, यह अच्छा होगा कि वे बोले। वे न तो शाप देते हैं और न क्रोध करते हैं लेकिन यह उनके लिये हजार गुना अच्छा होगा अगर वे शाप दे सकें; अधिक अच्छा होगा अगर वे क्रोध कर सकें। वे असमर्थ हैं। उनके हृदयों पर मृत्यु ने अधिष्ठान जमा लिया है और हाथ ठंडे पड़ने लग गये हैं। अब वह हृदय शाप देने को भी हलचल नहीं कर सकता, एक कड़ा शब्द भी उपयोग में नहीं ला सकता।

यह आवश्यक है कि हम इन सबका तिरस्कार करें। इसलिए मैं कहता हूँ कि स्वर्गीय ताकत की जरूरत है। अमानुष शक्ति पर्याप्त समर्थ नहीं है। स्वर्गातीत ताकत ही एक और एकमेव छुटकारे का मार्ग है। सिर्फ़ उसी के बल पर इन उलझनों में से, इन आपत्तियों

की इस बौछार में से बिना झुलसे पार जा सकते हैं। चाहे हमारे टुकड़े टुकड़े हो जावें और हम फट जावें लेकिन हमारा हृदय अधिकाधिक उदार होता जाना चाहिए।

यह बहुत कठिन है, लेकिन यह कठिनाई लगातार अभ्यास द्वारा दूर की जा सकती है। हमें यह सीखना चाहिए कि जब तक हम स्वयं उसका बोध नहीं कर लेते हमें कुछ नहीं होता। मैंने अभी कहा है कि जब तक शरीर स्वागत न करे मुझे कोई रोग न होगा। रोग होना यह सिर्फ कीटाणुओं पर ही अवलम्बित नहीं है, वह है शरीर की पूर्वानुकूलता पर भी। हमें वही मिलता है जिसके लिये हम पात्र हैं। आओ, हम अपना अभिमान छोड़ दें, और यह सीखें कि कोई आपत्ति ऐसी नहीं है जिसके हम पात्र न थे। फिजूल चोट कभी नहीं पड़ी। ऐसी कोई बुराई ही नहीं है जो मैंने स्वयं अपने हाथों न बुलाई हो। इसका हमें ज्ञान होना चाहिए। तुम विचार विमर्श कर देखो और देखोगे कि ऐसी एक भी चोट तुम्हें न लगी जो स्वयं तुम्हारी की गई न हो। आधा काम तुमने किया और आधा बाहरी दुनिया ने और इस तरह तुम्हें चोट लगी। यह विचार हमें गंभीर बना देगा। लेकिन साथ ही साथ आशा की आवाज भी आवेगी। वह इस प्रकार से। 'बाह्य जगत पर मेरा प्रभुत्व नहीं, लेकिन जो मुझमें है, जो मेरे अन्दर है, वह मेरी दुनिया मेरे अधिकार में है। अगर अपयश आने के लिये दोनों दुनियाओं के संयोग की आवश्यकता है, अगर चोट लगने के लिये दोनों इकट्ठे आना जरूरी हैं तो मेरे अधिकार में जो दुनिया है उसे मैं सहमत न होने दूंगा फिर देखूंगा कि मुझे चोट कैसे लगती है? अगर मैं खुद पर सच्चा प्रभुत्व पा जाऊं तो चोट कभी न लग सकेगी।

हम वचपन ही से किसी दूसरी वस्तु पर दोप मढ़ना सीखते हैं। ऐसी वस्तु पर जो हम से निराली है। हम सदा दूसरों के सुधार में तत्पर रहते हैं लेकिन स्वयं अपने नहीं। अगर हम दुःखी हो तो कह उठते हैं कि, "दुनिया तो शैतान की दुनिया है।" हम दूसरों को दोप देते हैं और कहते हैं कि क्या ही प्रलुब्ध मूढ़ हैं लेकिन अगर हम सचमुच अच्छे हैं तो हमें ऐसी दुनिया में रहना ही क्योंकर चाहिए? अगर यह शैतान की दुनिया है तो हमें भी शैतान होना चाहिए, नहीं तो हम यहां क्यों आते? "अफसोस, सारी दुनिया स्वार्थी है।" सच है, लेकिन अगर हम अच्छे हैं तो फिर हमारा उनसे सम्बन्ध क्योंकर आया? जरा यह सोचो।

जो हमारे योग्य था वही हम पाते हैं। जव हम कहते हैं कि दुनिया वुरी है और हम अच्छे तो यह झूठ है। ऐसा असम्भव है। यह एक भीषण असत्य है जो हम वोल रहे हैं।

पहला पाठ पढ़ना है यह। निश्चय कर लो कि वाहरी किसी वस्तु पर भी मैं दोष न मढूंगा, उसे अभिशप्त न करूंगा। मनुष्य वनो और डट कर खड़े रहो। दोष खुद को लगाओ। तुम अनुभव करोगे कि यह सच था। स्वयं अपने को वश में लाओ।

क्या यह लज्जा का विषय नहीं है कि एक वार तो हम अपने मनुष्यत्व की, अपने ईश्वर होने की वड़ी वड़ी वात करें, हम कहें कि हम सर्वज्ञ हैं, सव कुछ करने में समर्थ हैं, निर्दोष हैं, छिद्रहीन हैं और दुनिया में सवसे निःस्वार्थी हैं और दूसरे ही क्षण एक छोटासा पत्थर भी हमें चोट पहुंचा दे? या किसी साधारण से साधारण मनुष्य का भी जरासा क्रोध हमें जखमी कर दे और कोई भी चलता राहगीर "इन परमेश्वरों को" दुःखी वना दे। अगर हम देवता हैं

तो क्या ऐसा होना चाहिए ? क्या दुनिया को दोष देना न्याय्य है ? क्या परमेश्वर जो पवित्रतम और उदारतम है हमारी किसी भी चालबाजी के कारण दुःख में पड़ सकता है ? अगर तुम इतने निःस्वार्थी हो तो तुम परमेश्वर के समान हो। कौनसी दुनिया फिर तुम्हें चोट पहुंचा सकती है ? सातवें नरक में से भी बिना झुलसे, बिना स्पर्श हुए तुम निकल जाओगे। लेकिन जिस लिये कि तुम शिकायत करते हो और दुनिया पर दोष मढ़ना चाहते हो उसीसे यह साफ जाहिर है कि तुम्हें बाहरी दुनिया का ज्ञान हो रहा है। तुम्हें दुःख होता है इसी से सिद्ध है कि तुम वह नहीं हो जो अपने को जतलाते हो। दुःख पर दुःख रचकर और यह मान लेकर कि दुनिया हमें चोट लगाये जा रही है तुम अपने अपराध को अधिक बड़ा बनाते जाते हो और चीखते जाते हो कि, 'अरे बापरे, यह शैतान की दुनिया है; यह मनुष्य मुझे चोट लगा रहा है और वह मनुष्य मुझे चोट लगा रहा है।' यह दुःख पर झूठ चुपड़ना है।

हमें अपनी चिन्ता करनी चाहिए। इतना ही हम कर सकते हैं। हमें कुछ समय तक दूसरों की ओर ध्यान देने का ख्याल छोड़ देना चाहिए। हमें अपने साधन निर्दोष बना लेना चाहिए फिर साध्य अपनी चिन्ता स्वयं कर लेगा। क्योंकि दुनिया तब ही पवित्र और अच्छी हो सकती है जब हम स्वयं पवित्र और अच्छे हों। वह है परिणाम और हम हैं उसके कारण। इसलिए आओ हम खुद को पवित्र बनावें ! आओ, हम अपने आप को निर्दोष बना लें !